योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 33 जुलाई 2000 अंक 4

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव
विनोद कुमार शर्मा

एक प्रति	रु०	8-00
वार्षिक शुल्क	रु०	75-00
द्विवार्षिक	रु०	140-00
आजीवन	रु०	750-00

इस अंक में

- अमृतकण 2
- ऋतम्भरा प्रज्ञा (विशेष लेख) 3
- सम्पादकीय 7
- प्रकाशपथ-ज्ञानपथ — स्वामी अभयानन्द जी 10
- योग से आत्म साक्षात्कार — पं० सियाराम शास्त्री 13
- स्वस्थ और स्वास्थ्य-एक विश्लेषण — ब्र० विजय प्रकाश पालीवाल 15
- दुःख की निवृत्ति का उपाय — स्वामी श्रीचिदानन्दजी 16
- भोजन — राजेश कुमार श्रीवास्तव 20
- विश्वशान्ति का अमोघ उपाय — श्री हरदेवसहायजी 24
- भोग में योग — पं० श्रीकृष्णदत्त जी शास्त्री 31
- जातिस्मरता से दृढतर वैराग्य की प्राप्ति — डा० विजय सिंह 34
- स्वास्थ्य चर्चा 37

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 33
अंक 4

जुलाई
2000

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।।

श्वेताश्वतरोपनिषद ४/१८

भावार्थ

जब अज्ञानमय अंधकार का सर्वथा अभाव हो जाता है, उस समय अनुभव में आने वाला तत्व न दिन है, न रात्रि है, न सत् है और न असत् है। एकमात्र विशुद्ध कल्याणमय शिव ही है। वह सर्वथा अविनाशी है। वह सूर्याभिमानी देवता का भी उपास्य है तथा उसी से यह पुराना ज्ञान फैला है।

अमृत कण

दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैश्च चतुर्भिर्धार्यते मही।।

(शि० पु०, कोटिरु० सं० २४/२६)

दयालु मनुष्य, अभिमानशून्य व्यक्ति, परोपकारी और जितेन्द्रिय–ये चार ऐसे पवित्र खम्भे हैं, जो पृथ्वी को थामे हुए हैं।

***

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।।

(बृहन्ना० पु० ६०/४३)

विद्या के समान दूसरा नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

***

धर्मः कामदुघा धेनुः संतोषो नन्दनं वनम्।
विद्या मोक्षकरी प्रोक्ता तृष्णा वैतरणी नदी।।

(बृहन्ना० पु० २७/७२, चाणक्यनीति ८/१३)

धर्म ही कामधेनु के समान सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला है, संतोष ही स्वर्ग का नन्दन-कानन है, विद्या (ज्ञान) ही मोक्ष की जननी है और तृष्णा वैतरणी नदी के समान नरक में ले जाने वाली है।

***

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम्।।

(महा० स० ८१/११)

कालभगवान् डंडा उठाकर किसी का सिर थोड़े ही तोड़ देते हैं। कालका बल तो इसी में है कि वह वस्तु के स्वरूप को विपरीत करके दिखा देता है (और यही उसके विनाश का कारण होता है।)

***

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।।

(महा० वनपर्व० १३१/११)

सत्यविक्रम ! जो धर्म किसी दूसरे धर्म का विरोधी होता है, वह धर्म नहीं कुमार्ग है, धर्म वही है, जिसका किसी भी दूसरे धर्म से विरोध नहीं होता।

□ विशेष लेख

ऋतम्भरा प्रज्ञा

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैंने योग की महिमा बताते हुये पहले भी तुम्हें समझाया था कि **'यस्मिन ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति सैषा योग विद्या'** जिस विद्या के जान लेने पर सभी कुछ जान लिया जाता है वह हमारी योग विद्या है। इस रास्ते पर चलकर ही मनुष्य सर्वज्ञाता बन सकता है। परमाणु **'परममहत्त्वान्तो ऽस्यवशीकारः'** परमाणु से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त योगी का अधिकार होता है। योगी ही **'कर्तुमकुर्तम्'** बिगड़े को फिर बना दे उसे 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम' की शक्ति वाला कहते हैं। गीता मे भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने युक्त योगी के लक्षण इस प्रकार बताये हैं।

'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्तइत्युच्यते योगी सम लोष्टाश्म-कांचनः।'

अर्थात् जो ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा हो, कूटस्थ हो, जितेन्द्रिय हो, मिट्टी, पत्थर व सोना जिसकी दृष्टि में समान हो वह युक्त योगी कहलाता है। ये पाँच बातें युक्तयोगी में होनी चाहिये। ज्ञानतृप्तात्मा उसे कहते है जिसने प्रकृति के सारे नियमों व विश्लेषणों को समझकर उन पर अधिकार कर लिया हो अर्थात् जिसने महाभूतों पर, तन्मात्राओं पर इन्द्रियों पर अधिकार कर लिया हो वह ज्ञान तृप्तात्मा कहा जाता है। महाभूतों पर जय का एक उदाहरण देता हूँ–ऋषिकेश में चन्द्रभागा नदी है। काफी दिन पहले एक योगी जल के ऊपर खड़ाऊ पहनकर पानी के ऊपर इस प्रकार आये जैसे कोई जमीन पर चल रहा हो। गंगा के इस तरफ आकर कुछ क्षण रुककर पुनः इसी प्रकार से जल के ऊपर चलते हुये लौट गये। उन महात्मा जी की इस प्रकार की क्षमता को बहुत लोगों ने देखा था। हमारे बच्चे रंगीलाल हैं वे भी इस घटना को आँखों देखी बात कहकर बताया करते हैं। योग दर्शन में एक सूत्र आता है– **'उदान जयाज्जल पंक कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च'** अर्थात उदान वायु पर जय कर लेने पर योगी पानी, कीचड़ आदि में धंसता नहीं है। वह जमीन से ऊपर को भी उठ जाया करता है। ऊर्ध्वगमन करने की ताकत उसमें होती है। यह प्रकृति पर हकूमत का एक उदाहरण है। कूटस्थ का अर्थ है–आत्म ध्यान से विकार रहित स्थिति को प्राप्त हो जाना। विजितेन्द्रिय का अर्थ है कामनायें उसको विचलित नहीं कर सकती। ऋषिकेश में गंगा किनारे शीशम झाड़ियों में एक महात्मा अवधूत केशवानन्द जी रहते थे। एक बार वह काफी अस्वस्थ हो गये। उन्हें इलाज के लिये डाक्टर के पास ले जाया गया। डाक्टर ने सलाह दी कि वह यदि वीर्य खण्डित कर दें तो स्वस्थ हो सकते हैं। उन्होंने इस बात से इंकार कर दिया। उन्हें स्पर्शज्ञान ही नहीं था। ऊर्ध्वरितस योगी थे वह। उन्होंने पहले ही बता दिया था कि मेरी इच्छानुसार ही अमुक दिन यह

शरीर छूट जायेगा। ठीक वैसे हुआ। योगी विज्ञान 'तृप्तात्मा' होता है। इसका मतलब यह होता है कि उसे आत्म साक्षात्कार हो चुका होता है, उसके जड़ चेतन की गाँठ टूट जाती है। कहने को तो हर व्यक्ति कह सकता है आत्म साक्षात्कार हो गया किन्तु आत्म साक्षात्कार के क्या लक्षण हैं इस बात का संकेत योग दर्शन में मिलता है-**'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद वार्ता जायन्ते'**। आत्म दर्शन से पहले-पहले योगी में यह क्षमतायें आती हैं। जिस प्रकार से सूर्योदय से पहले हल्का-हल्का उजाला जब होने लगता है तो हमें थोड़ा-थोड़ा मकान, वृक्ष आदि दिखाई देने लगते हैं। वैसे ही योगी को वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होने लगता है। प्रातिभ ज्ञान की आभा से अमुक व्यक्ति क्या विचार कर रहा है इस बात का ज्ञान योगी को होने लगता है **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** जहाँ पर योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाता है। **'या मेधां देवगणा पितरश्च समुपासते'** जिस मेधा के लिये देवगण और पितर उपासना करते रहते हैं वही मेधा ऋतम्भरा प्रज्ञा है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर **'तज्जः संज्ञकारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी'**-अर्थात् ऋतम्भरा के संस्कार अन्य सभी प्रकार के संस्कारों को रोक देता है। इस ऋतम्भरा के साथ ही 'प्रातिभ श्रावण आदि क्षमतायें योगी में आ जाती हैं। ये सब आत्म साक्षात्कार से पहले-पहले होता है अभी आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ होता है। प्रातिभ ज्ञान के उदाहरण के रूप में अपने एक बच्चे की घटना सुनाता हूँ। हमारा एक बच्चा रघुनन्दन प्रसाद (टाट बाबा) था। वह श्री सिद्ध गुफा में रह रहा था। एक बार सफीदों के वैद्य राम स्वरूप हमारे पास दीक्षा लेने आये थे। उन्हें दीक्षा के लिये तैयार देखकर टाट बाबा ने कहा-भाई जी, आप गुरू जी से दीक्षा जल्दी ले लें। उनके कहने पर रामस्वरूप ने जल्दी दीक्षा ले ली। दीक्षा ले लेने के बाद उससे पूछा गया कि 'आप दीक्षा के लिये जल्दी क्यों कह रहे थे ? उन्होंने उत्तर दिया-इस समय तुम्हारी स्त्री को लड़का हो चुका है। अब आप को सूतक लग गया है, यदि विलम्ब हो जाता तो आप दीक्षा नहीं ले सकते थे'। लोगों ने पूछा-आप को इस बात का ज्ञान कैसे हुआ कि लड़का होने वाला है। उन्होंने कहा-पहले मेरे मन में यह बात आई कि लड़का हो रहा है। जब ऐसी कोई भी भावना मेरे मन में आती है वह सत्य होती है फिर मैंने इसे देखना चाहा, तो मुझे प्रसव होता लड़का भी दिखाई दे गया'। इस प्रकार आदर्श की सिद्धि से योगी दूर-दूर की देख लेता है। उसने भी जन्मते बच्चे को इस सिद्धि से देख लिया। इसी प्रकार से श्रावण सिद्धि से हजारों कोस दूर की बात को योगी सुन सकता है, हजारों कोस दूर की वस्तु को स्पर्श कर सकता है। **'यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** योग विद्या से सब कुछ जाना जा सकता है हृदय की भूमिकाओं की बात होती है। इस का आधार ध्यान योग ही है। मेरे बड़े गुरु भाई ब्र. गोपालानन्द जी की मन में इच्छा हुई-सृष्टि कैसे बनी ? योगी की एक ऐसी अन्तर्भूमिका होती है जिसमें उस के मन की शंका की बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान गुरुदेव उस ऋतम्भरा प्राप्त योगी के संकल्पों का जवाब दो प्रकार से दिया करते हैं। या तो उसकी बुद्धि में ही वे भाव आ जाते हैं जिन प्रश्नों का जवाब चाहता है या ध्यान की अवस्था में उसे आकाश वाणी होती है जिसके द्वारा उसके प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है या अक्षरों के रूप में लिखे हुये उसके सामने आ जाते हैं। इनमें से सबसे उत्तम

जवाब वह होता है जिसका हृदय में अपने आप स्फुरण हो जाये। ब्र. गोपालानन्द जी के मन में सृष्टि उत्पत्ति के बारे में जानने की उत्कण्ठा हुई। ध्यान में एक ऋचा सामने आई **'ऋषयो मन्त्र दृष्टारः'** मन्त्र जिनके सामने आये वह ऋषि कहलाते हैं। ऋचा का प्राकट्य तब समझना चाहिये जब बिना पढ़ी व सुनी बात सामने आ जाये। हम लोग तो वेदों के भाष्य पढ़ते हैं टीकायें पढ़ते हैं। किन्तु योग में एक ऐसी भूमिका होती है जिसमें शब्द सुनने मात्र से उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यह भीतर की रूहानी विद्या है। सारे विश्व के प्राणियों की आवाज के अर्थ को योगी समझ लेता है। ब्र. गोपालानन्द जी के सामने प्रकाश पुञ्ज में एक ऋचा आई।

'हिरण्यगर्भः समर्वताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकसीत।
सदाधार पृथ्वीम् द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्'।

अर्थात् सबसे पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, हिरण्यगर्भ ही ब्रह्म है। उस हिरण्यगर्भ से ही सृष्टि का प्रस्फुटन हुआ। **'तस्माद्वा एतस्माद्वा आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी'**। उस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है उस से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है यह क्रम है। इस ऋचा के आने के पश्चात् उन्हों ने इस क्रम को दृश्य के रूप में भी तत्वों में परिवर्तित होते देख लिया। इस प्रकार से ऋतम्भरा प्राप्त योगी के लिये कुछ भी संसार में अज्ञेय अथवा रहस्य नहीं रहता है। अस्तु ।

योगी की उपासना में और अन्य लोगों की उपासना में क्या अन्तर है यह बतलाना आवश्यक है। योगियों से इतर लोग, देवताओं को आत्म समर्पण करके उनसे थोड़ी-थोड़ी शक्ति लेते हैं, वरदान आदि प्राप्त करते हैं भूत प्रेतादि की उपासनाओं से शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं इस प्रकार से मनुष्य **'देवानाम् पशुः'** देवताओं का पशु होता है। किन्तु योगी अपनी शक्ति के आप मालिक होते हैं वे दूसरे के आधीन रहकर जीना पसन्द नहीं करते। योगी कुण्डलिनी महाशक्ति को जागृत कर अपनी शक्ति पर अपना नियन्त्रण रखता है' **'अदीनाः स्याम् शतम् शरदः'** का पाठ योगी लोग ही पढ़ते हैं। केवल मात्र ध्यान के द्वारा अपने भीतर की ताकतों को जागृत करके सब पर अनुशासन करने वाले एवं प्रकृति पर हकूमत करने वाले होते हैं-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः।।

युक्त योगी अपने को सभी प्राणियों में स्थित देखता है और सभी प्राणियों को अपने में देखा करता है। यह उसकी आत्मस्थिति की बात हुआ करती है। अन्य लोग वरदान आदि के लिए उपासना करते हैं। जबकि योगी लोग स्वयं **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** की सामर्थ्य वाले होते हैं। मनुष्य देवताओं की उपासना करता है वह इसलिए कि उनमें शक्ति है। मनुष्य चाहता है कि उनकी शक्ति से हमारी मदद हो जाये। वह भगवान कृष्ण की उपासना करते हैं कभी राम की उपासना करते हैं शक्ति के कारण। दुनियाँ शक्ति की पुजारी है। उनके पास अपनी शक्ति नहीं होती इसलिये शक्ति वालों की उपासना करते हैं' जबकि योगी **'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा'** होकर सर्वसमर्थ होते हैं। योग

कहाँ से चलता है यह मैंने तुम्हें कई बार बताया हुआ है। धारणा, ध्यान समाधि की पुष्टि पाकर फिर संयम की स्थिति पर पहुँचता है। योगी ही किसी निर्णय पर पहुँच सकता है। क्योंकि वह आत्म ध्यान परायण होता है। मैंने तुम्हें ब्र. गोपालानन्द जी के हाथ कटने की बात बताई थी। श्री प्रभु जी से लोगों ने पूछा' प्रभु जी इनका हाथ क्यों कटा ? यह तो योगी हैं ध्यानी हैं फिर उनके साथ ऐसा क्यों ? कुतर्क करने वाले लोग जल्दी कुछ न कुछ बोल लिया करते हैं किन्तु प्रभु जी ने कहा-तुम लोग स्वयं ध्यान में देखो कि इसका हाथ क्यों कटा। हमारे गुरु भाईयों ने ध्यान शक्ति से सब कुछ जान लिया कि क्यों कटा। बाद में तथ्यका पता लगाने का सत्य पाया। अस्मितानुगत योग पर आरूढ़ होने पर योगी की **अस्मि् अस्मि,** इस एक ही प्रकार की वृत्ति बनी रहती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा इसके बाद की स्थिति है। **ज्यों गूंगा गुड़ खाये नैनन स्वाद सरहाये।** इस स्थिति को योगी स्वयं ही अनुभव कर सकता है। हर वस्तु के पीछे जो परम सत्य है उसका दर्शन योगी को होता है। सब कुछ यथार्थ देखता है ऋतम्भरा प्राप्त योगी यदि भविष्यवाणी करता है तो वह सत्य होता है। पुराणों में एक भविष्य पुराण है। इसमें कलिकाल में क्या-क्या होगा, इस बात की भविष्यवाणी पहले से ही की हुई है इसके अनुसार।

पृथ्वी में औषधियों में रस नहीं रहेगा। इसके गुणों में क्षीणता आ जायेगी।

कागज़ की मुद्रा होगी। आज कागज की ही मुद्रा है। पत्नियाँ पति के विरुद्ध चलने वाली होंगी। पुत्र पिता को कलंकित करने वाले होंगे। पृथ्वी निर्बीज होती जायेगी- धन-धान्य की कमी होगी। आदि-आदि। सब सही घटित हो रहे हैं।

भविष्यवाणी करने का अधिकारी ऋतम्भरा प्राप्त योगी ही हो सकता है अन्य कोई नहीं।

अन्य यदि भविष्य वाणी करेंगे तो सत्य नहीं निकलेंगे। ऋतम्भरा प्राप्त ऋषि ही भविष्य वक्ता हो सकते हैं। जो लोग समाधि का अभ्यास करते हैं वे अवश्य ही उत्कर्ष पाते हैं। सिद्धों के दर्शन होने पर वे तुम्हारी शक्ति को बढ़ा देते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर एक विशेषता यह तो होती है कि ऋतम्भरा के जो नये संस्कार बनते हैं, वे अन्य सभी हेय संस्कारों के प्रतिबन्धी होते हैं। **'तज्ज: संस्कारोऽन्य अन्य संस्कार प्रतिबन्धी'** ऋतम्भरा के संस्कारों के उदय होने पर जन्म मरण के चक्कर में डालने वाले संस्कार रुक जाते हैं। पुराने संस्कारों को उसी में भोग लेता है। इसलिए योग ही उत्तमोत्तम मार्ग है। मनुष्य को अपने ध्येय से विचलित नहीं होना चाहिये। हृत्पुण्डरीक अथवा हृदय कमल को सीधा कर लोगे तो खेचरी आदि मुद्रायें स्वाभाविक होने लगेगी।

अस्मिवृत्ति के प्रकट होने के बाद 'अहं ब्रह्मास्मि' वाली बात भी स्वयं प्रकट हो जाती है। केवल मात्र योग की धारणा को पुष्ट करते चलो। हम योगी हैं ऐसी धारणा बनाते चलो 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते'। योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म-कर्मकाण्ड से आगे निकल जाता है। **'भवेद्वीर्यवती गुप्ता गुरू वक्त्र समुदभव:'।**

गुरू मुख से सुनी विद्या वीर्यवती होती है अत: मेरे मुख से योग के पवित्र सिद्धान्तों को सुनकर अपने को पवित्र योग मार्ग की ओर चलाओ। यदि ऐसा करोगे तो श्री प्रभु जी की कृपा अवश्य होगी। 'ओम्'।

※※※

गुरुदेव एवं गुरु पूर्णिमा

गुरुपूर्णिमा का उत्सव शिष्यों के लिये परम उल्लास एवं श्रद्धा-प्रेम का दिवस है। यूँ तो 'गुरुमूर्ति स्मरेत् नित्यम्' के नियमानुसार ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव नित्य ही स्मरणीय हैं फिर भी यह दिन भक्तों के लिये समवेत रूप से पूजन व आराधना का दिन है। इसे व्यासपूजा भी कहते हैं। साधक के लिये वस्तुत: गुरुदेव ही सब प्रकार से आराध्य व वरेण्य हैं क्योंकि वे ही शिष्य के जीवन के हर प्रकार के दु:खों का निवारण करते हुये उसके -जन्ममरण के बन्धनों को सदा के लिये काट डालते हैं। शास्त्रों में ब्रह्मभाव से गुरुपासना व आराधना की बात की जाती है। बाहर से देखने पर तो गुरु का शरीर भी पञ्च भौतिक सा ही दिखाई देता है। गुरुदेव के क्रियाकलाप भी मानवीय से दिखने के कारण उनमें ईश्वर भाव रखना कठिन कार्य है। इसलिये शास्त्रों में बार-बार चेतावनी दी गई है कि गुरुदेव को मनुष्य कदापि न समझें। जब तक गुरुदेव की कृपाओं एवं लीलाओं का अनुभव नहीं होता तब तक मनुष्य बुद्धि रहा करती है। जब शिष्य को पग-पग पर गुरुदेव अपनी विधमानता का आभास कराते हैं तब शिष्य को उनके चिन्मय स्वरूप का बोध होता है। तब उसे ज्ञान होता है गुरुदेव सर्वभूतात्मा, सर्वगत:, सर्वात्मा हैं सर्वत्र चराचर में समान रूप से विराजमान हैं। ऐसा अनुभव युक्त ज्ञान होने पर भी गुरु में मनुष्य बुद्धि नहीं रहती। गुरुदेव की महानता एवं दिव्यता का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। **'लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति'**। लोकोत्तर चरित वाले महापुरुषों के विषय में कृत्स्नेन जानना बहुत कठिन है क्योंकि ये कभी कभी **'वज्रादपि कठोराणि'** वज्र से भी कठोर मालूम पड़ते हैं और कभी-कभी **'मृदूनि कुसुमादपि** फूल से कोमल उनका मन होता है। योगी लोग अपनी शक्तियों को छिपा कर रखते हैं व्यवहार में जन सामान्य में उनका प्रदर्शन व प्रयोग कदापि नहीं करते। किन्तु जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सूर्य की धवल किरणें चतुर्दिक फैल कर प्रकाश व उष्णता फैला देती हैं उसी प्रकार से महापुरुषों एवं योगियों का उदात्त दिव्य चरित का स्वत: ही प्राकट्य एवं प्रकाश हो जाया करता है।

गुरुदेव की सेवा से, भक्ति एवं आराधना से प्रसन्न होकर गुरुदेव शिष्य के लिये अपनी विभूतियाँ प्रकट कर देते हैं। जब शिष्य गुरुदेव के योग विभूतियों का अनुभव करता है तभी वह पूर्ण रूप से गुरुनिष्ठ बन पाता है। गीता में भगवान ने **'भक्त्या मामभिजानाति, भक्त्या तु अनन्यया शक्य: ज्ञातुम्'** आदि वचनों से इस बात की पुष्टि की है कि उनको सेवा एवं भक्ति से ही जान सकते हैं। समाधि के अभ्यास से एकाग्र हुआ मन ही भगवान के दिव्य लीलाओं को अनुभव करने में समर्थ बनता है।

गुरुदेव करुणा की मूर्ति होते हैं। हमारे सद्गुरु देव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज को उनके बालक करुणा सागर के नाम से पुकारते हैं। उनका करुणा एवं दया भाव ही उन्हें मर्त्यलोक में रहने वाले मरण धर्मा जीवों के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये विवश कर देता है। गुरुदेव भगवान कहा करते थे-'यह पृथ्वी लोक सिद्धों एवं योगियों के रहने की जगह नहीं है। गुरुदेव अपने शिष्यों के हृदय में स्थित अज्ञान का हरण करते हैं। अज्ञान का नाश एवं ज्ञान का प्रादुर्भाव करने के कारण ही उनका 'गुरु' नाम सार्थक है। गुरु के समान शिष्य का दूसरा कोई हितैषी नहीं हो सकता। गुरु अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि एवं कृपा से शिष्य के जन्म मरण के क्रम को तोड़ डालते हैं। गुरु पञ्च भौतिक शरीर का नाम नहीं है। गुरु तत्व हैं जो कई रूपों में विद्यमान रहा करते हैं। वे घटाकाश रूप से शिष्यों के घट में रहते हैं। महाकाश रूप से समस्त ब्रह्माण्ड में नाना शरीरों से व्यक्त है तथा 'चिदाकाश' रूप से चेतना रूप से मन सब में सन्निविष्ट हैं। पृथ्वी मण्डल पर आकर गुरुदेव का संकल्प एक सुदृढ़ योगी-समाज का निर्माण करना होता है जो स्वयं योग रूपी नौका पर आरूढ़ हो भव सागर से तर जायें और अन्यों को भी तारने वाले बन जायें। गुरुदेव के पावन सान्निध्य में रहने वाले नवयुग के घटक बन जाते हैं जिसके नायक व सृष्टा गुरुदेव होते हैं यह सतोगुणी ध्यान योगियों एवं परम पुण्यवानों का युग होता है।

गुरु पूर्णिमा के पावन अवसर पर गुरुदेव के दिव्य गुणों का स्मरण कर उन्हें अपने अन्दर भरने का प्रयास करना शिष्य का परम कर्तव्य बन जाता है। गुरुदेव पूर्ण चन्द्रमा के समान योग के समस्त कलाओं से पूर्ण होते हैं । पूर्ण चन्द्रमा से ही अमृत रस का निःसरण होता है।

गुरुदेव भी अमृत रस के सागर होते हैं उनसे ही शिष्यों के जीवन में अमृतत्व का संचार होता है। गुरुदेव के सतत् एवं नित्य चिन्तन करते रहने से शिष्य दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होता चला जाता है तथा साथ ही भावी जीवन में अभय पूर्वक रहा करता है। **'कालमृत्युभयाद्वापि गुरुः रक्षति सर्वदा'** गुरुदेव काल एवं मृत्यु के भय से भी सदा रक्षा किया करते हैं। आनन्दकन्द श्री गुरुदेव चन्द्रमोहनजी महाराज के चरण कमलों में अनेकों उदाहरण ऐसे देखने सुनने को मिले जिनमें उनके मृत्यु से बचाव की बात सिद्ध होती है। गुरुदेव के साक्षात् सदेह विद्यमान रहते हुये उनके शिष्यों को मृत्यु का भय कभी लगता ही नहीं है। अपने गुरुदेव भगवान के जीवन में एक विशेष बात यह भी थी कि वे किसी के भी मन को किञ्चिद भी ठेस नहीं पहुँचने देते थे। **'सन्त हृदय नवनीत समाना'** की उक्ति पूर्णरूप से उनके जीवन में चरितार्थ थी। वे सदा ही **'सत्यं ब्रूयात् प्रियम् ब्रूयात'** के नियम को आत्मसात् किये सभी को इसी पर चलने का उपदेश दिया करते थे। वस्तुतः गुरुदेव के दिव्य गुणों को अपने जीवन व आचरण में उतारना ही शिष्य का लक्ष्य होना चाहिये। उनके दिव्य आचरणों का अनुसरण करते रहने से स्वतः ही उनका ध्यान-चिन्तन बना रहता है। इस प्रकार से सेवा व चिन्तन से ही शिष्य का यथार्थ में कल्याण होता है।

गुरुं भक्तिं सदा कुर्यात् श्रेयसे भूयसे नरः।

यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो उसे सदा गुरु भक्ति में तत्पर रहना चाहिये। गुरु भक्ति और सेवा से ही आदमी महान बनता है। महापुरुषों के जीवन चरित्रों का अवलोकन करते रहने पर यह भली भाँति समझ में आता है कि वे गुरु सेवा व भक्ति के बल से ही जीवन में उच्चतम ऊँचाइयों को छू सके हैं। सद्गुरु सत्ता में अवस्थित रहते हुये भी गुरुदेव के जीवन में अपने गुरुदेव के प्रति समर्पण व निष्ठा थी वे सभी आने वाले शिष्यों के लिये प्रेरणा-स्तम्भ हैं। गुरु सेवा व निष्ठा में कभी भी प्रमाण नहीं करना ही गुरुदेव सभी को सिखाते रहे हैं। गुरुदेव के संकल्प एवं आज्ञा के अनुसार कार्य करना ही उत्कृष्ट गुरु सेवा है। इसी प्रकार से योग प्रचार के सत्कार्यों में तत्पर रहना गुरुदेव की सेवा का अंग है। किन्तु इस कार्य को करते हुये किसी शिष्य के मन में अहंकार नहीं आना चाहिये। अन्यथा पथभ्रंश का खतरा ही रहता है। गुरुदेव कभी भी स्वयं को सामने नहीं आने देते थे। वे सदा ही कहा करते हैं–वे करण कारण ही सब कर रहे हैं। मैं तो उनका कछड़ी हूँ' 'मुझे उन्होंने माध्यम बनाया हुआ है'।

यदि इसी प्रकार का भाव सभी शिष्यों के अन्दर आ जाये तो ये भी द्वन्द्वों व विवादों से असंग रह सकते हैं।

गुरु पूर्णिमा की इस पावन बेला पर उनके दिव्य गुणों एवं महान आदर्शों का स्मरण करना ही शिष्य के कल्याण का कारण बन सकेगा, जिससे शिष्य पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो सके। गुरु पूर्णिमा की पावन वेला पर करुणामूर्ति गुरुदेव को कोटि-कोटि नमन !

❋❋❋

भागवत सत्ता में निवास करना, भगवान की चेतना और आनन्द को, उनके संकल्प और ज्ञान को अपने ऊपर अधिकार करने देना उनको अपने साथ और अपने माध्यम से क्रीड़ा करने देना है। यही है अति मानव बनने का असली ढंग। यही है सत्ता के पर्वत शिखर पर होने वाला मनुष्य का रूपान्तर यही स्वयं अपने रूप में भगवान को प्राप्त करना है तथा सब वस्तुओं में उनका दर्शन करना है। उनकी सत्ता में निवास करो, उनके प्रकाश से चमको, उनकी शक्ति से कार्य करो उनके आनन्द से आनन्दित होओ।

महायोगी अरविन्द

प्रकाशपथ-ज्ञानपथ

स्वामी अभयानन्द जी

दुःख का एक कारण है अज्ञान। अज्ञान अर्थात् किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न जानना। वास्तविकता का ज्ञान न होने पर ही मनुष्य गलती करता है और दंड पाता है। यही दुःख का कारण है अन्यथा परमात्मा की किसी से शत्रुता नहीं जो किसी को कष्ट दे, दण्ड दे।

प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है इसलिये वह उपासनीय है। परमात्मा प्रकाश रूप में, ज्ञान रूप में ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो उसे इस रूप में जानते और भजन करते हैं उनका अज्ञान दूर होता है। अज्ञान दूर होने से मनोविकार दूर होते हैं। दोषपूर्ण कार्य नहीं होते फलस्वरूप उन्हें किसी प्रकार की यातना भी नहीं भुगतनी पड़ती। ज्ञानवान परमात्मा की सृष्टि को मंगलमय देखता है। उसके लिये इस सृष्टि में आनन्द ही आनन्द है।

भारतीय संस्कृति में दीपक का जो असाधारण महत्व है वह इसी दृष्टि से है। दीपक जीवन में ऊर्ध्वगामी होने, ऊँचे उठने और अन्धकार को मिटा डालने की प्रेरणा देता है इसलिये वह प्रत्येक मंगल कार्य में प्रतिष्ठित होता है भावार्थ यह है कि मनुष्य प्रकाश की व्याख्या को समझे। संसार में जो अन्तर्निहित ज्ञान है उसे अपने हृदय में प्रवेश होने दें। जब तक मनुष्य के लिये यह सत्य प्रकट नहीं होता तब तक उसके जीवन का कुछ मूल्य नही होता। दीपक कहता है कि तुम्हारे अन्दर जो प्राण जलता है जो सत्-चित्-आनन्दमय है तुम उसे ढूँढो, जानो और अपने जीवन में अभावों को दूर करो। प्रकाश में सब कुछ साफ और स्पष्ट दिखाई देता है। भय नही लगता। ज्ञान से मनोविकार शान्त होते हैं और सांसारिक शूल मिटते हैं। इसलिये जब यह कहा जाता है कि दीपक की उपासना करो तो उसका संकेत ज्ञान की उपासना ही होती है। ज्ञान अर्थात् प्रकाश परमात्मा का दिग्दर्शन स्वरूप है इसलिये प्रकाश की पूजा परमात्मा की ही पूजा हुई है।

प्रकाश ही एक तत्व है जो विभक्त होकर दृश्य और द्रष्टा बन गया है। वह परमात्मा भी है और मनुष्य शरीर में प्रतिष्ठित आत्म चेतना भी ! ऋग्वेद का एक मन्त्र द्रष्टा लिखता है–

अयं कविरकविषु प्रचेता
मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि।
समानो अत्र जुहुरः सहस्वः
सदा त्वे सुमनसः स्याम।

अर्थात् हे प्रकाश रूप परमात्मा ! तुम अकवियों में कवि होकर, मर्त्यों में अमृत बनकर निवास करते हो। हे प्रकाश स्वरूप ! तुम से हमारा यह जीवन दुःख न पाये। हम सदैव सुखी बने रहें।

विश्व में व्याप्त परम तेज की गाथा ऋषि दार्शनिकों ने पग-पग पर की है। माण्डूक्य उपनिषद्

में सृष्टि और तेज दोनों को कार्य और कारण माना है। सृष्टि फल है तो प्रकाश उसका बीज। दोनों एक दूसरे से लिपटे हुये हैं। न प्रकाश से संसार विलग है न संसार से प्रकाश अलग है। दोनों प्रेम और परमात्मा की तरह दो दिखाई देते हुये भी एक रूप हैं।

पर हम उस पूर्ण प्रकाश को देख नहीं पाते, इसलिये कि हमारा गमन अन्धकार की ओर है। अन्धकार अज्ञान का वैसा ही प्रतीक है जैसे ज्ञान का प्रकाश। बाह्य जीवन में बुरी तरह भटके होने का नाम अज्ञान है। आन्तरिक सत्य को ढूँढ कर भौतिक सुखों से चिपटे हुये हैं उन्हें छोड़ने का जो प्रयत्न नहीं करता वह अंधकार की ओर बढ़ता हुआ। अंधियारे में साफ नहीं सूझता। कहीं पत्थर से टकरा जाते हैं, कहीं ऊँचे नीचे में लड़खड़ा जाते हैं। पाँव में काँच चुभ जाता है तो कहीं फिसल कर गिर पड़ते हैं। अन्धकार के गर्भ में दुःख भार है इसलिये वह अवांछनीय है, घृणित और त्याग देने योग्य है।

अग्नि में वह शक्ति है कि वह लोहे के किसी भी टुकड़े को पिघला कर टुकड़ा-टुकड़ा कर दे या अनेक टुकड़ों को जोड़कर एक कर दे। कण-कण में जीवन बिखेरने का तथा उन्हें समेट कर एक कर देने का कार्य प्रकाश द्वारा होता है।

वह बाह्य एवं अन्तरंग दोनों स्तरों में प्रतिष्ठित है पर उसका बाह्य स्वरूप स्थूल और भ्रामक है इसलिये वह अन्धकार कहलाया और उससे बचकर चलने की प्रेरणा दी गई। इसमें वस्तुओं का स्वरूप बदलता रहता है, स्थिरता नहीं होती पर आकर्षण होता है। इसलिये मनुष्य उसकी ओर जल्दी खिंच जाता है। पर जब उसका रूप बदल जाता है तो उसे दुःख का अनुभव होता है। किन्तु जो आन्तरिक स्वरूप है वह अपरिवर्तनशील और फिर सत्य है। उसे ढूँढने से परिवर्तन शील जगत के सुख भी खोजने को तो मिलते रहते हैं पर उनमें आसक्ति न होने से दुःख का आभास नहीं होता। सामान्य दृष्टि से उसके कार्यकलाप भी अन्य लोगों जैसे ही होते हैं किन्तु आन्तरिक रूप से वह पूर्ण शान्त स्थिर चित्त तथा पूर्ण आनन्द की अवस्था में होता है। प्रकाश के कारण वह अज्ञान मूलक कर्मों में भटकता नहीं।

सांसारिक भोगों को अज्ञान कहा गया है। इसमें स्थिरता नहीं होती। इनका रूप बदलता रहता है जो लोग इनके पीछे-पीछे चलते हैं इन्हें तरह-तरह के नाच नाचने पड़ते हैं पर आन्तरिक प्यास बुझती नहीं। सूर्य की विपरीत दिशा में छाया की ओर बढ़ने पर न तो छाया ही हाथ आती है और सूर्य भी दूर हटता जाता है। पर जब सूर्य की ओर बढ़ते हैं तो रास्ता भी साफ दिखाई देता है, सूर्य की समीपता अनुभव करते हैं और भोग रूपी छाया भी पीछे-पीछे चलने लगती है। जिस प्रकाश के होने से मार्ग भ्रम हो जाता है वह यह आत्म-ज्ञान या ईश्वर प्राप्ति ही है। इसलिए प्रार्थना की जाती है-

तव त्रिधातु पृथिवी उतद्यौर्वैश्वानर
व्रतमग्ने सचन्त।
त्वम् भासा रोदसी
आततन्थाजस्त्रेण रोचिषा शोशुचानः।। –ऋग० ७/५/४

अर्थात्–"हे वैश्वानर देव ! यह पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक तुम्हारा ही अनुशासन मानते हैं। तुम प्रकाश द्वारा व्यक्त होकर सर्वत्र व्याप्त हो। तुम्हारा तेज ही सर्वत्र उद्भासित हो रहा है, हम तुम्हें कभी न भूलें।

ईश्वर उपासना की आवश्यकता यों है कि उस सत्य को भुला न दिया। वह सामने रहेगा तो अन्धकार का जीवन में प्रवेश न हो सकेगा। काम, क्रोध, लोभ, मनस्ताप, दुश्चिन्ता, अशक्तता, आलस्य सब उस प्रकाश को देखकर भाग जाते हैं। वह जहाँ रहता है वहाँ कष्ट नहीं होते, दरिद्रता नहीं होती। दुर्बलता दूर रहती है। आसक्ति परेशान नहीं करती। कर्तव्य ही उसका जीवन बन जाता है। वह निर्भय होकर रहता है।

नीराजन, दीपदान या आरती की भावना इस आत्मदान की ही उद्बोधक है। मैं जो कुछ हूँ वह तेरे लिये हूँ तुझे समर्पित हूँ ऐसी भावना उस ईश्वर की आरती में है। यह जो प्रकाश है उसे हाथों द्वारा मुख और मस्तिष्क में धारणा करते है उसमें एक तथ्य सन्निहित है कि तुम्हारा तेज हमसे दूर न रहे। तुम मुझ में ओत-प्रोत रहो, मुझ में कान्ति बन कर मेरा मार्ग-दर्शन करते रहो। यह मंगल-भावना अनिष्टों से बचाने वाली और क्लेशों से छुड़ाने वाली है।

प्रकाश की अन्तश्चेतना सत्य और चेतना के साथ सौन्दर्य भी है। अज्ञान अन्धा और कुरूप है, उस पर सदैव प्रकाश शासन किया करता है। व्यवहारिक जीवन में भी ज्ञानवान् ही अज्ञानियों पर विजयी होते हैं। ज्ञान का ही सर्वत्र आदर होता है। वह इसी रूप में है। सौन्दर्य सबको मधुर और प्यारा लगता है। सब उसकी ओर आकर्षित होते हैं। और उसके समीप कुछ क्षण बिताने का जो प्रयत्न करते हैं अपने इस रूप में वह लौकिक सुखों का भी दाता बन जाता है।

अपने लिये वह किसी भी रूप में हो पर आवश्यक है। वह न रहेगा तो सांसारिक व्याधियाँ अवश्य सतायेंगी, मद मोह और मत्सर जरूर परेशान करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो परमात्मा की यह सृष्टि दुःख रूप हो जायेगी और मनुष्य शरीर पाने का कोई उद्देश्य पूरा न होगा। परमात्मा मंगलमय है, उसकी सृष्टि भी मंगलमय है। इस मंगल दायक जगत में सुखोपभोग के लिये हम आकाश से उतर कर आये हैं। उसे भोगें पर भटकें नहीं। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि अन्धकार की ओर न जाकर प्रकाश की ओर गमन करें। तब यह प्रकाश ही जीवन में आनन्द बनकर ओत-प्रोत हो जाता है।

❋❋❋

योग से आत्म-साक्षात्कार

पं० सियाराम शास्त्री वेदान्ताचार्य कासगंज (एटा)

यह निश्चित अटल सिद्धांत है कि योग ही नि:श्रेयस प्राप्ति के साधनों में सर्वश्रेष्ठ है, बिना योग साधन के मानव परम-पद कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्ष प्राप्ति के साधनों में जितनी साधना शास्त्रों में वर्णित है, उन सब में प्रधान योगमार्ग सर्वश्रेष्ठ और मान्य है। श्री महर्षि पतंजलि ने **'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'** इस सूत्र में चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता को ही योग नाम से निर्दिष्ट किया है। सत्व, रज, तम के भेद से चित्त का स्वभाव भी त्रिविध होता है, जिस समय सत्वगुण की वृद्धि होती है, उस समय धर्मज्ञान वैराग्य से युक्त चित हो जाता है, रजोगुण की वृद्धि में लोभादि लौकिक विषयों में प्रवृत्ति होती है, एवं तमोगुण की वृद्धि में प्रमाद अर्थात आवश्यक कर्मों में अकर्मण्यता, मोह, सांसारिक पदार्थों में तृष्णा एवं अज्ञान की वृद्धि होती है, श्री भगवान् गीता में कहते हैं-

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौतमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।

जिस समय चित्त में रज और तम का लेशमात्र भी नहीं रहता तब विशुद्ध सत्व का उदय होता है। अर्थात् उस समय मन अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

श्री भगवान कहते हैं कि ज्ञान के समान अन्य वस्तु पवित्र नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने में स्वयं योग के द्वारा ही होता है चूँकि बिना अन्तःकरण की वृत्तियों के समाहित हुये द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति नहीं होती जहाँ स्वरूप स्थिति में श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि, साधनों से स्वरूप स्थिति में सिद्धि मानी है वहाँ भी प्रधानता चित वृत्ति निरोध को है। चित्त निरोध के बिना एकाग्रता प्राप्त होना अति दुर्लभ है- बिना श्रवणादि के षट् सम्पत्ति के अधिकार और लक्ष्य प्राप्त होना दुष्प्राप्य है। ऐसी जिज्ञासा होने पर प्रकाश डालते हैं-आश्रम धर्म के अनुष्ठान से पाप निवृत होता है, शम-दमादि सेवन से चित्त की विपरीत प्रवृत्ति निवृत होती है। मनन के द्वारा असम्भावना निवृत होकर-जीव ब्रह्म की एकता, ब्रह्मैव-वेद सर्वम, आत्मैवेदं सर्वम्, इत्यादि श्रुति वाक्यों में विश्वास होता है। एवं निदि-ध्यासन से विपरीत भावना निवृत होकर सूक्ष्मार्थ धारण में मनोवृत्ति की क्षमता होती है। उससे शब्दजन्य अपरोक्ष ज्ञान प्रकट होता है, यही योग और ज्ञान का चरम लक्ष्य है, गीता में भी भगवान स्वयं कहते हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्य गुभ्योर्विन्दते फलम्।।

सम्यक् तत्वरत्वेन ख्यायते, इति सांख्यं, परंब्रह्म, ईश्वर प्राप्ति में, ज्ञान योग, एवं कर्मयोग,

साक्षात एवं परम्परा सम्बन्ध से स्थित है, तथापि भेदवादी अज्ञानी फल भेद मानते हैं, यथा–कर्मणा पितुलोक, कर्म से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है–एवं **'नैष्कर्म्य सिद्धि परमां सन्यासेनाधि गच्छति'**, ज्ञान योग से कैवल्य पद प्राप्त होता है। यद्यपि, **'ऋतेज्ञा नान्मुक्तिः'** ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती ऐसा सिद्धान्त है, तथापि पण्डिता–वेदान्त शास्त्र पारंगत पुरुष उन दोनों के फल का पर्यवसान, साक्षात एवं परम्परा रूप से ब्रह्म में ही सिद्ध करते हैं। जैसे, तत्वमस्यादि–वाक्यों में चित्त शुद्धि के अभाव से ब्रह्मतत्व का बोध नहीं होता और चित्त शुद्धि बिना कर्मोपासना सिद्ध नहीं एवं कर्मोपासना में भी प्रवृत्ति **'एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः'** इत्यादि वाक्यों से महत्व प्रतिपादन करने से ही होती है, इस प्रकार कर्मोपासना में प्रवृत्त पुरुष का ही अन्तःकरण शुद्ध होता है, शुद्धान्तःकरण ही ज्ञानोमुख होता है। इसलिए ज्ञान सिद्धि का कारण चित्त शुद्धि, एवं चित्त शुद्धि का कारण कर्म ही है, अतएव–श्रुति भगवती प्रेरणा करती है। तथा–

विद्या चा विद्यां च यस्तदवेदोमयं सह।
अविद्यया मृत्युंतीत्वविद्ययामृतमश्नुते।। (ईश० उप०)

अतः श्रवर्ण से अविद्या रूप मृत्यु को जीत कर ज्ञान से अमृत–स्वरूप मोक्ष, अप्राप्त–मिव प्राप्त, भवति, अप्राप्त की तरह प्राप्त होता है। अतः परम्परा सम्बन्धेन साध्य साधनभाव रूप में प्राप्त होने पर भी फलैक्य में एक ही है। अर्थात दोनों का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति है। ऐसा पण्डित ज्ञानी पुरुष मानते हैं। अतः सांख्य तथा योग का सम्यक् अनुष्ठान करने से मुमुक्ष मोक्ष फल को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त गीता वाक्यों में परम्परा एवं साक्षात् रूपेण भेद का प्रतिपादन करते हुये भी अन्त में दोनों को पर्यवसान ब्रह्म में ही किया है। इसलिए श्री भगवान आनन्दकन्द श्री कृष्ण जी अपने श्री मुख से कहते हैं–

पुञ्जन्मेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः।
शांति निर्वाण परमां मत्संस्थामाधि गच्छति।। गीता ६-१५
तं विद्याद्दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योकव्यो योगोऽनिर्विराण चेतसा।। गीता ६-२३
वेदेषु यज्ञेषु तपः सुचेव दानेषु यत्पुराय फलं प्रदिष्टं।
मत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वायोगी परंस्थान पुपैति चाद्यम्।।

समाहित चित्त होकर जो योगी अपनी आत्मा को परमात्मा में लगाता है, वह दुःख रहित परम शान्त मेरे धाम को प्राप्त करता है।

दुःख को दूर करने वाले उस योग को जानना चाहिए, उसका निश्चय के द्वारा शान्त मन से अभ्यास करना चाहिये।

वेदों के स्वाध्याय से यज्ञों से तथा तप करने से एवं दान करने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है उन सब का अतिक्रमण करके ब्रह्म का ज्ञाता योगी परम स्थान मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह योग साधना के द्वारा अपने चरम लक्ष्य ' भगवत्प्राप्ति करें, जिससे मनुष्य जीवन की वास्तविक सफलता हो सके।

***

स्वस्थ और स्वास्थ्य-एक विश्लेषण

(ब्र. विजय प्रकाश पालीवाल)

कहते हैं स्वस्थ शरीर में स्वस्थ अर्थात् शान्त आत्मा का निवास होता है। यद्यपि आत्मा स्वभावत: स्वस्थ और शान्त है, फिर भी अहंकार राजस-तामस वृतियों से जीव को अस्वस्थ बनाने का प्रयास करता रहता है जिससे वह अशान्त हो जाता है।

आज विश्व के वैज्ञानिकों और चिकित्सकों ने बीस वर्षों के अनुसंधान के पश्चात् सुस्वास्थ्य के लिए विशुद्ध शाकाहार का व्यवहार आवश्यक बताया है जो भारत में कई हजार वर्ष-पूर्व गीता में सात्विक आहार के रूप में बतलाया जा चुका है। पूर्ण स्वस्थ होने और रहने के लिये कुछ और अन्वेषणीय है, जिसे प्राप्त करके ही मानव स्वस्थ रह सकता है।

इस प्रसंग में स्वस्थ शब्द के अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है- **'स्वस्मिन तिष्ठतीति स्वस्थ:।'** अर्थात् जो स्व में स्थित हो उसे स्वस्थ कहते हैं। 'स्व' का अर्थ है जीवात्मा। स्वस्थ शरीर में सात्विक बुद्धि और प्रसन्न मन की आवश्यकता होती है। गीता में कहा गया है-

'सत्वात्सञ्जायते ज्ञानम्'। (१४/१७)

इसलिए पूर्ण स्वस्थता हेतु शारीरिक समरूपता के साथ मानसिक समरूपता भी आवश्यक है। ऐसी स्वस्थता से ही शान्ति मिलती है और शान्ति ही सुख, या सुख का कारण है। अशान्त व्यक्ति को सुख कहाँ ? -**'अशान्तस्य कुत: सुखम्'** (गीता २ (६६) अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध सूक्ति है- 'A happy life consists in tranquility' सुखी जीवन मानसिक शान्ति से ही होता है। सुख और दु:ख को समान समझने वाला आत्मभाव में स्थित ही पूर्ण स्वस्थ माना जाता है। - **'समदु:खसुख: स्वस्थ:।'** (गीता १४/२४) यही स्वास्थ्य गुणातीत का प्रथम लक्षण है।

जैसे शरीर बहुत कृश-दुर्बल है तो प्राणी अस्वस्थ माना जाता है। वैसे ही बहुत मोटा है तो भी वह अस्वस्थ कहा जाता है। अपचय और उपचय दोनों से रहित शरीर स्वस्थ माना जाता है।

'आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभु।'
उपाभ्यां रहित: स्वस्थो दु:स्थस्य विद्यात्मसौ।।"

(श्री मद्० ४/११/२१)

इन प्रसंगों से निष्कर्ष निकलता है कि स्वस्थ होने के लिए शारीरिक और मानसिक संयम दोनों ही समानरूप से अपेक्षित हैं। प्रसन्नचित रहना स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है। लौकिक सुख के लिए भी दु:ख और सुख में समअपचय और उपचय में सम तथा हित एवं अहित में दु:ख और सुख में सम अपचय और उपचय में सम तथा हित एवं अहित में सम्भाव रूप में स्वस्थ रहना ही वास्तविक स्वास्थ्य प्राप्त करना है।

***

दुःख की निवृत्ति का उपाय

स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।

आकाश को चमड़ी के समान शरीर में लपेटने में यदि मनुष्य समर्थ होगा, तभी वह देव के दर्शन के बिना, ईश्वर का साक्षात्कार किये बिना दुःख से पार हो सकेगा। विधिमुख से इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे आकश को चमड़ी के समान शरीर में लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार ईश्वर का दर्शन किये बिना दुःख से पार पाना मनुष्य के लिये अशक्य है।

यह श्लोक श्वेताश्वतर-उपनिषद् का है। इसके बाद के तीन श्लोकों में यह कहा गया है कि श्रीश्वेताश्वतर ऋषि ने बहुत दारुण तप किया था और उसके बाद उनको इस उपनिषद् का ज्ञान प्राप्त हुआ। अतएव किसी भी अनधिकारी पुरुष को इस उपनिषद् का ज्ञान नहीं देना चाहिये।

परंतु आज के मुद्रणयन्त्र के वैज्ञानिक युग में पैसे के अधिकार में दूसरे सारे अधिकार समा जाते हैं। जैसे-एक निबन्ध लेखक ने लिखा, कुछ मासिक-पत्रों में वह प्रकाशित हुआ और उनके सारे ग्राहकों को यह अमूल्य ज्ञान बिना मूल्य तथा बिना परिश्रम के मिल गया। ऐसी स्थिति में मनुष्य अवश्य यह संतोष कर लेता है कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। परंतु बाँच लेना मात्र कोई ज्ञान नहीं है। जब तक मनुष्य साधन सम्पन्न नहीं होता, तब तक ज्ञान की बात का मर्म या रहस्य उसकी समझ में आता ही नहीं और इस कारण वह हृदय में नहीं उतरता। ज्ञान को पचाने के लिये साधन-सम्पत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा वह ज्ञान केवल सुग्गे की रट रह जाता है और केवल प्रदर्शन करने में ही उसका उपयोग होता है।

ज्ञान के लिये अधिकार के विषय में एक संत ने बहुत सुन्दर बात लिखी है, उसे देखिये-भक्ति के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है, शरणागति के बिना भक्ति नहीं होती। सद्गुरु के बिना शरणागति का भाव नहीं आता और मुमुक्षता के बिना सद्गुरु की शरण नहीं मिलती। मैं कौन हूँ ? ईश्वर कौन है ? जगत् क्या है? ज्ञान क्या है ?-यह जानकर स्वरूप-ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र इच्छा के बिना सच्ची मुमुक्षुता नहीं आती। वैराग्य के बिना तीव्र इच्छा नहीं होती। विषय का तिरस्कार हुए बिना वैराग्य नहीं टिकता। त्रिविध ताप के संताप से व्याकुल हुए बिना विषय-भोग के प्रति तिरस्कार नहीं होता। इन सब स्थितियों में से अपनी मनोदशा का विचार करके ही 'हे भगवन् ! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'-यों कहने का अधिकार मिलता है। भगवान् का ज्ञान नहीं है, अपना भी ज्ञान नहीं है और 'मैं भगवान् का भक्त हूँ, भगवान् मुझ पर कृपा करके मुझको अवश्य दर्शन देंगे, मैं मुक्ति पाऊँगा'- ऐसा अनुमान करना व्यर्थ है। भगवान् कहेंगे कि तुझको अपनी फुरसत के समय भजन करने की आदत है तो मुझको भी अपनी फुरसत के समय ही सुनने की आदत है।

इस बात को शास्त्र इस प्रकार समझाते हैं-

विषयासक्तिनाशेन बिना न श्रवणं भवेत्।
ताभ्यां विना न मननं ध्यानं तैर्विना कचित्।।

विषयासक्ति, भोग-लालसा का नाश किये

बिना गुरु उपदेश का यथार्थ श्रवण भी नहीं हो सकता। जब तक चित्त विषयों में ही भटकता रहता है, तब तक एकाग्रता पूर्वक श्रवण ही नहीं बन सकता। इसी प्रकार बाँचने की बात भी समझ लेनी चाहिये। जब तक श्रवण और पठन ठीक-ठीक नहीं होता, तब तक उसका मनन किस प्रकार हो सकता है ? और जिसका मनन न हो, वह विषय भला, अन्तः करण में स्थिर कैसे रह सकता है ? और जो विषय अन्तर में स्थिर न हो, वह जीवन में कैसे उतर सकता है ?

फिर ज्ञान को स्थिर रहने के लिये जगह चाहिये। ज्ञान के स्थिर होने का स्थल है अन्तःकरण। उसमें यदि विषय-वासनाओं के जाले भरे हों तो वहाँ ज्ञान किस प्रकार रह सकेगा ? व्यवहार में भी यही बात दीख पड़ती है। एक लोटे में पानी भरा है; यदि उसमें दूध लेना हो तो पानी उँडेले बिना, यानी लोटे को खाली किये बिना उसमें दूध नहीं ले सकते। यही बात ज्ञान की है। ज्ञान के लिये भी अन्तःकरण को खाली करना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान के लिये अधिकार की विशेष आवश्यकता है, उसके बिना ज्ञान नहीं होता।

दुःख की निवृत्ति के लिये जो देव के साक्षात्कार की बात ऊपर कही गयी है, उसका स्वरूप समझाते हुए भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं-

को देवो यो मनः साक्षी मनो मे ज्ञायते मया।
तर्हि देवस्त्वमेवासि एको देव इति श्रुतेः।।

शिष्य-देव कौन है ? देव का स्वरूप क्या है ?

गुरु-जो मन के व्यवहार को जानता है, वही देव है।

शिष्य-अपने मन के व्यवहार को तो मैं ही जान सकता हूँ, दूसरा कोई भी नहीं जान सकता।

गुरु-ऐसी अवस्था में तुम स्वयं देव हो। तुम्हारा अन्तरात्मा ही वह देव है, जिसके दर्शन से दुःख की निवृत्ति होती है। इसका कारण श्रुति यह बतलाती है कि वह चाहे जहाँ, चाहे जिस रूप में प्रकट हो, परन्तु देव एक ही है और अद्वितीय भी है।

उपर्युक्त संवाद में श्रीशंकराचार्य ने श्रुति का प्रमाण दिया है। वह श्रुति इस प्रकार है-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।।

भले ही वह विभिन्न स्वरूपों में तथा स्थलों में प्रकट होता हो, तथापि जहाँ है वहाँ देव एक ही है। वह प्राणीमात्र के हृदय में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापक है, यानी वह कहाँ नहीं है, यह कहना ही नहीं बनता। वह अप्रकट रहता है, फिर भी प्राणी मात्र में अन्तरात्मा के रूप में स्थित है। उसके सांनिध्यमात्र से प्राणी अपना-अपना व्यवहार करने में समर्थ होते हैं। वहं वही सचराचर जगत् को धारण कर रहा है। वही देव मन और बुद्धि के साक्षी रूप में सर्वत्र प्रकट भी दीखता है; क्योंकि वह चिन्मात्र है, चैतन्यस्वरूप है। एक तथा अद्वितीय है तथा निर्गुण और गुणातीत भी है।

उपर्युक्त मन्त्र भी श्वेताश्वतर उपनिषद् का है और उसमें ऋषि कहते हैं कि अन्तरात्मा ही देव है और आत्मसाक्षात्कार से दुःख की निवृत्ति होती है। इसी उपनिषद् में देवका सविशेष वर्णन इस रूप में आता है-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

उस देवका कोई शरीर नहीं और शरीर न होने के कारण इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, वह अद्वितीय है, यानी उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है। उससे अधिक तो फिर कोई हो ही कैसे सकता है। श्रुति कहती है कि उसकी शक्तियाँ विविध और असाधारण हैं। परंतु उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति स्वाभविक रीति से ही काम करती रहती है। इन दोनों शक्तियों की स्वाभाविक क्रियाशीलता के कारण ही अनन्त ब्रह्माण्डों का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ ही करता है।

अब यदि दुःख की निवृत्ति करनी है तो पहले उसका स्वरूप देखिये। साधारण अवलोकन करने से भी ज्ञात हो जायगा कि बारंबार जन्मना और बारम्बार मरना तथा उतनी ही बार गर्भवास की यातनाएँ भोगना-इसके समान दूसरा कोई दुःख इस जगत् में नहीं है। आधि, व्याधि और उपाधि-जैसे दूसरे दुःख तो क्षणिक होते हैं और उनका परिपाक होने पर वे निवृत्त भी हो जाते हैं तथा ये दुःख भी तो उन्हीं को होते हैं, जिन्होंने जन्म लिया है। इसलिये समावेश जन्म के दुःख के अन्तर्गत हो हो जाता है।

सुभाषित कहता है-

जन्म दुःखं जरा दुःखं जाया दुःखं पुनः पुनः।
अन्तकाले महादुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि।।

पहले गर्भवास का दुःख भोगना पड़ता है और फिर पाक-काल आने पर जन्म का दुःख भोगना पड़ता है। यह दुःख कोई ऐसा-वैसा नहीं। जिस प्रकार कोल्हू में पेरे जाने के बाद ईख का रस बाहर आता है, वैसे ही उस समय का यह दुःख है। उसके बाद वृद्धावस्था के अनेकों दुःख भोगने पड़ते हैं। पुनः प्रत्येक जन्म में स्त्री-पुत्र आदि के वियोग का दुःख भी भोगना ही पड़ता है और मृत्यु का दुःख भी महाभयंकर होता है। इसलिये सुभाषितकार कहते हैं-**जागृहि जागृहि** 'मोहनिद्रा में न पड़े रहो, ईश्वर का ज्ञान सम्पादन करो और जन्म-मृत्यु रूपी समुद्र को पार कर जाओ।'

अब देवका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार का स्वरूप देखकर निबन्ध समाप्त करेंगे। इसी उपनिषद् में इसका स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है-

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टास्ततस्तेनामृतत्वमेति।।

यह ब्रह्मचक्र इतना विशाल है कि इसमें सारे जीव अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं और उसमें अवस्थित भी रहते हैं। इस ब्रह्मचक्र में जीवात्मा (हंस) अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। क्यों उसे भ्रमण करना पड़ता है, इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि वह अपने को परमात्मा से भिन्न मानता है, इसी कारण उसे ब्रह्मचक्र में भटकना पड़ता है। 'यह भटकना कैसे बंद हो ? इसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि यदि जीवात्मा अपने को परमात्मा से अभिन्न अनुभव करे तो उसी क्षण उसका भटकना बंद हो जाय और वह अपने मूल अजर, अमर और अविनाशी स्वरूप को प्राप्त हो जाय। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जब तक आत्मा अपने को परमात्मा से पृथक् मानता है, तब तक वह जीव या जीवात्मा कहलाता है। जहाँ जीवभाव आया, वहाँ कर्ता-भोक्ता का अभिमान आता है और उससे जन्म मरण की परम्परा में भटकना अनिवार्य हो जाता है।

आत्मा में जीव भाव कैसे आता है, इसके

विषय में योग वाशिष्ठ में लिखा है कि 'सृष्टि के आरम्भ काल में ब्रह्म ही सृष्टि रूप हो जाता है। ब्रह्मादिक, जो ब्रह्मरूप ही हैं; वे सृष्टि के आदिकाल में प्रकट हो जाते हैं; तथा दूसरे जीव भी, जो ब्रह्मरूप ही हैं; सैकड़ों और हजारों की संख्या में प्रकट हो जाते हैं जो अज्ञान के आवरण के कारण अपने ब्रह्म से पृथक् मानते हैं, वे रजोगुण और तमोगुण के द्वारा मिश्रित सत्वगुण के परिणाम में होने वाले जीवभाव को स्वीकार करके इस जगत् की वासना के संस्कार से युक्त होकर पहले मर जाते हैं। फिर प्रारब्ध का भोग भोगने के लिये उनका जन्म होता है; क्योंकि स्वयं ब्रह्मरूप होने पर भी, इस बात को भूलकर वे जड़ देहादि में आत्म बुद्धि करके जन्म मरण के चक्र में फिरा करते हैं। समय पर जब वे स्वयं ही अपने मूल स्वरूप को पहचान लेते हैं–मैं ही ब्रह्मरूप या परमात्मरूप हूँ, यह निश्चय कर लेते हैं, तब उनका जन्म-मरण बंद हो जाता है। इस स्थिति को मोक्ष या मुक्ति कहते हैं।' (जिस अज्ञान के आवरण के कारण जीव अपने ब्रह्मभाव को भूलकर अपने को ब्रह्म से पृथक् मानता है, उस अज्ञान को शास्त्र 'अविद्या' कहते हैं और वह मूल में ही रहती है, अतएव उसे मूलाविद्या कहते हैं।

–यो० वा० नि० उ० सर्ग १४२।

अविद्या के कारण आये हुए इस जीवभाव की निवृत्ति– के लिये इस नीचे लिखे श्लोक को खूब समझकर इस पर मनन करना चाहिये। ऐसा करते-करते जीव और शिव का अभेद समझ में आ जायेगा और ब्रह्मचक्र में भटकना बंद हो जायगा।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदशानिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्।।

इस शरीर को तो देवता का मन्दिर समझो। इसमें जो चैतन्य है जिसे जीव कहते हैं, वह स्वभावतः शिव स्वरूप ही है। अपने अज्ञान से तुम व्यर्थ ही जीवरूप बन गये हो। अतएव इस अज्ञान रूपी निर्माल्य को शिव के ऊपर से हटाकर मैं शिवस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन दृढ़ता पूर्वक किया करो, इससे तद्रूप हो जाओगे।

इस बात का प्रमाण शास्त्र में इस प्रकार मिलता है–

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमार्थतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकरूपताम्।।

क्रियामात्र से आसक्ति हटाकर कीड़ा भ्रमर का ध्यान करते-करते भ्रमर रूप हो जाता है। इसी प्रकार योगी, जो समस्त व्यवहारों से आसक्ति हटाकर केवल आत्मा का ही ध्यान करता है, यदि तद्रूप हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इसीलिये श्रीशंकराचार्य कहते हैं–

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसार मिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।।

प्रश्नोत्तरी में प्रश्नरूप में वे पूछते हैं कि रात-दिन किस का चिन्तन करना चाहिये ! इसी का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह जन्म-मरण रूपी संसार मिथ्या है और मैं तो शिव स्वरूप आत्मा हूँ– ऐसी चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये।

***

भोजन

-राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

आधुनिकता का खान-पान,
बना आज जन-जन की शान।
किन्तु सुनो भोजन के प्यारो,
सचमुच यही रोगों की खान।

रोगी नित्य लगाते आशा,
कोई समझले उनकी भाषा।
उर में करुणा भाव जगाकर,
कर दे कुछ उपकार जरा सा।

किन्तु व्यर्थ सब दया की आशा,
हाथ लगी दुःख भरी निराशा।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं,
कह गये संत श्री तुलसीदासा।

बलवानों का बल-अभिमान,
करता दुर्बल का अपमान।
रोगी, दुर्बल और असहाय,
पाते कहीं नहीं सम्मान।

विचारपूर्ण जो खान-पान हो,
क्यों हों रोगी, क्यों अपमान।
अब आगे से रखना ध्यान,
रोगी होना नहीं महान।

योग मार्ग पर चलने वालो,
जानो 'भोजन और स्थान'।
दोनों में जो मलिन एक भी,
'योग' में नहीं उन्हें सम्मान।

हे प्रभु ! कैसी अति हुई है,
मति मानव की कुमति हुई है।
प्राणी बदल रहा पल-पल में,
विवाह-जन्मदिन सब होटल में।

भाग्यहीन जो 'होटल' जायें,
भोजन बहुत प्रेम से पायें।
कठिन परिश्रम के पैसों से,
होटल का सब 'मल' धो लायें।

दुनियाँ जाये, तो जाने देना,
ये मानना अपना कहना।
हे प्रभु के हृदय के टुकड़ो !
तुम होटल दर्शन कभी न करना।

औरों की देखा देखी में,
दूषित भोजन कभी न करना।
हम सब हैं प्रभुजी के प्यारे,
हमको ध्यान भजन है करना।

हमने आत्म-शुद्धि सब खोई,
जब से छोड़ी 'घर की रसोई'।
ध्यान प्रवृत्ति बने ना अपनी,
'प्रज्ञा' अपनी जमकर सोई।

अशुद्ध जगह का भोजन सारा,
भोजन नहीं, पशुओं का चारा।
योग विषय नहीं है पशुओं का,
यह सत् पुरुषों को अति प्यारा।

कर अपराध दोष न माने,
मानव मन की यही विवशता।
आत्म-लाभ में अति आवश्यक,
भोजन और स्थान पवित्रता।

प्राणी नहीं वे निरे पशु हैं,
जिनको नहीं 'शान्ति' का सुख।
आत्म लाभ की बात करें क्या,
दीखे दुःख, बस दुःख ही दुःख।

भोजन में मत गड़बड़ करना,
अधोगति पाओगे वरना।
क्यों चाहते हो रोग पालना,
बेमौके पर मृत्यु लादना।

रोगी के वश 'भजन' न 'ध्यान'
पतन है उसका निश्चित जाना।
देह कष्ट से 'रोगी' हारा,
फूटी नाव का कितना सहारा ?

ये जीना भी क्या है जीना,
रोज-रोज दुःख ही दुःख पीना।
साहस नहीं और दुःख झेलूँ,
तजूँ प्राण, नये जन्म खेलूँ।

होगी देह न होंगे रोग,
बाधित कभी न होगी श्वांस।
वंशी फिर क्या खाक बजेगी,
जब होगा नहीं कोई बांस।

अरे ! नहीं ऐसा मत करना,
दुःख में मन छोटा मत करना।
आत्म हत्या तो कायरता है,
ऐसा भारी पाप न करना।

रोगों के अति कष्ट के कारण,
उर में भाव जो ऐसे आऐं।
दुःख पर थोड़ा संयम करके,
अपने मन को यूँ समझायें।

मरने का दिन तो निश्चित है,
फिर क्यों जीवन व्यर्थ गवाऐं।
थोड़ा सही अल्पजीवन से,
कुछ न कुछ तो लाभ उठाऐं।

कितने पुण्य से, प्रभु कृपा से,
आखिर मानव देह मिली है।
अपने ही दोषों से हमने,
भारी रोगों से भर ली है।

शान्त भाव से 'प्रभु' के प्यारो,
नित्य निरन्तर गुरु को भजना।
पर दोषों में मन रम जाये,
ऐसा चिन्तन कभी न करना।

कितना भी कोई क्यों न सतावे,
बुरा कभी न उसको कहना।
सोचो हित-कल्याण सभी का,
सब को प्रभु का अंश समझना।

धन्य वे जिनको सद्गुरु ज्ञान,
विषयी-सुखों से रहें अंजान।
तीन लोक में उनकी शान,
जिनके उर रहें गुरु भगवान।

जब मन बैठे दृढ़ता ऐसी,
समझो रोग की ऐसी-तैसी।
जीवन-तत्व नित्यप्रति करना,
अवसर पड़े दवा भी करना।

जीवन फिर कैसे भी जीना,
गुरुमंत्र का अमृत पीना।
सेवा से कभी दूर न रहना,
तभी समझना सचमुच जीना।

मंत्रजाप से गुरुवर आते,
खुश होकर अमृत बरसाते।
दुर्गुण स्वतः दूर हो जाते,
गुण ही गुण उर में भर जाते।

कभी किसी पर क्रोध न करना,
व्यर्थ समय को नष्ट न करना।
उचित बोल में मौन साधकर,
नादशक्ति की रक्षा करना।

मन की शक्ति बढ़ाने वाले,
सर्वश्रेष्ठ हैं ये ही साधन।
फिर क्यो राग-द्वेष में पड़कर,
डवाँडोल करते अपना मन।

भोजन की गड़बड़ से सारा,
जीवन ही गड़बड़ होता है।
आओ समझे भोजन प्यारा,
किसको ? कैसा ? कब ? होता है।

रजोगुण प्रधान प्रकृति का भोजन

(श्रीमद्भगवद गीता से)

कड़वा, खट्टा, तीखा, रूखा,
दाहकारक और बहुत गरम।

लवणयुक्त है जिनका भोजन,
सेवन में नहीं करें शरम।

ऐसा भोजन करने वाले,
रजो गुणी कहलाते हैं।
चिन्ता, रोग, दुःख भर लेते,
आत्मिक शान्ति गवांते हैं।

रोग और चिन्ता में डूबे,
प्राणी समझ न पाते हैं।
मन की चंचलता में,
कितने और पंख जुड़ जाते हैं।

पावन गीता के उपदेशक,
श्री कृष्ण, समझाते हैं।
मन की 'एकाग्रता' से वे नर,
बहुत दूर हो जाते हैं।

तमोगुण प्रधान प्रकृति का भोजन

अधपका, रसरहित और,
दुर्गन्धयुक्त बासी भोजन।
अण्डा, माँस और मछली वाला,
होता अति अशुद्ध भोजन।

भर देता आलस्य-प्रमाद से,
दुःखदायी होता जीवन।
बीज यही अज्ञान-पतन का,
तमोगुणी का प्रिय भोजन।

करते जगत विनाश, जगत को,
दुःख देते हैं अति भारी।
इनके उत्पातों से पीड़ित, होती है
दुनियाँ सारी।

उर में है अज्ञान पनपता,
बुद्धि उनकी पाती जड़ता।
मात्र मलिन भोजन से प्राणी,
लाख चौरासी योनि भटकता।

सत्वगुण प्रधान प्रकृति का भोजन

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य,
सुख और प्रीति बढ़ाने वाले।
रसयुक्त और चिकने भोजन,
देह में स्थिर रहने वाले।

जिन्हें स्वाभाविक ही प्रिय होते,
ऐसे निर्मल, हल्के भोजन।
श्रेष्ठ उन्हीं का होता चिन्तन,
नित्य निखरता उन्हीं का जीवन।

योग मार्ग पर सफल वही है,
जिसका भोजन शुद्ध सही है।
जिसका स्वाभाविक गुण पवित्रता,
समझो सात्विक पुरुष वही है।

जो नर बिगड़ गया है 'मन' से,
समझो बिगड़ गया वह 'तन' से।
मन और तन जिसके नहीं साथी,
खाली हुआ वही यश-धन से।

चंचल मन नहीं जिसके वश में,
'मन' से शीघ्र वही बीमार।
काम-क्रोध की नित्य-निरन्तर,
उसके तन पर पड़ती मार।

वैद्य वाग्भट्ट ने समझाकर,
चरक महर्षि को बतलाया।
जग को रोग मुक्त रखने को,
जिसने आयुर्वेद रचाया।

हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक् के,
अनुसार नहीं जिनका भोजन।
कर ले लाख उपाय अवश्य ही,
रोगी तो होगा वह जन।

मन रहता चिन्तन के वश में,
चिन्तन है भोजन के वश में।

जैसा भोजन, वैसा चिन्तन,
चिन्तन जैसा ही बनता 'मन'।

चिन्तन पर भोजन की सत्ता,
जो चाहो मन में पवित्रता।
भोजन के सिद्धान्त समझना,
जिसकी है अति आवश्यकता।

भोजन का है एक गुप्त गुण,
'संस्कार' इसमें भी लगता।
जैसे धन से भोजन आता,
वैसे ही संस्कार पकड़ता।

मेहनत के धन का जो भोजन,
उसमें निकले दूध की धारा।
शोषण के धन का जो भोजन,
उसमें निकले खून की धारा।

संस्कार जैसा भोजन पर,
मन पर पड़ता वही संस्कार।
चोर बना दे चोर का भोजन,
संत का भोजन संत बना दे।

भोजन के धोखे में जो जन,
नित पीते हैं खून की धारा।
निन्दा-चुगली, राग-द्वेषमय,
मन होता है उनका सारा।

नित्य मिले असफलता उनको,
काम-क्रोध की भड़के ज्वाला।
सारी दुनियाँ दोषी दीखे,
कुढ़कर तन-मन होता काला।

हो जाता मन मलिन तुरन्त,
विकार सैकड़ों भर जाते हैं।
आलस्य-प्रमाद-कुण्ठा से देह के,
अंग शिथिल सब पड़ जाते हैं।

बिगड़े पाचन-तन्त्र, सन्तुलन,
खो देता नाड़ी संस्थान।
होता रक्त संचार अनियमित,
देह पकड़ती रोग महान।

ज्यों-ज्यों बढ़े तनाव मानसिक,
नये-नये रोग बनाते जाल।
खून सूख जाता सब देह का,
खाली रह जाता कंकाल।

भोजन शुद्धि का सरलतम् उपाय

सत्व शुद्ध भोजन हो भाई,
लाना घर में नेक कमाई।
तब भोजन की शुद्धि-सफाई,
'सतगुण' से हृदय भर जाई।

कलयुग में भोजन की शुद्धि,
कर पाना अति हुआ कठिन है।
'वर्ण-आश्रम' भंग होने से,
सबका जीवन हुआ मलिन है।

स्वाभाविक कर्म की अदल-बदल में,
शुद्ध-अशुद्ध का भेद जटिल है।
खान-पान से सभी एक अब,
विषयी-सुख सब की मंजिल है।

इस कठिनाई से बचने की,
एक सरलतम युक्ति यही है।
भोजन प्रभु को करो समर्पित,
इससे अच्छी राह नहीं है।

एक बात और ध्यान में लाना,
भोजन अपना स्वयं बनाना।
करते हो जो भोग साधना,
प्रभु को भोग लगा कर खाना।

जो प्रभुजी का भोग लगाते,
भोजन नहीं वे अमृत पाते।
सूक्ष्म दोष भोजन के मिटते,
ऐसा गुरुजी थे समझाते।

※※※

विश्वशान्ति का अमोघ उपाय

-लाला श्री हरदेवसहायजी

भौतिक विज्ञान से मनुष्य को भोग के साधन अधिक प्राप्त हुए। बाह्य सुख भी मिला। पर विज्ञान की उन्नति के परिणामस्वरूप संसार के सभ्य और उन्नत कहलाने वाले देशों में भी मानव का संहार करने वाले अस्त्र-शस्त्रों की होड़ लग गयी। पचास वर्ष पूर्व के युद्धों में बंदूक और तोपों को ही अधिक प्रभावशाली संहारक साधन माना जाता था। सन् १९१४-१८ की लड़ाई में टैंकों, तोपों और साधारण हथगोलों से काम लिया गया। इसके बीस वर्ष बाद दूसरे युद्ध में अधिक संहार करने वाली मशीनी तोपें, तरह-तरह की मशीनगनें और हवाई जहाज युद्ध के साधन बने। अणुबम का भी श्रीगणेश हुआ। अमरीकी अणुबमों ने जापान के नागासाकी और हीरोसीमा नगरों को कुछ ही क्षणों में विध्वंस कर दिया। युद्ध में रत सैनिकों का ही नहीं, लाखों निरपराध स्त्रियों, बालकों और वृद्धों, बीमारों का भी निर्दय संहार हुआ। करोड़ों की सम्पत्ति खाक हो गयी। इस दुर्दशा का प्रभाव जापान, जर्मनी आदि अंग्रेज-अमरीका के विरोधियों पर पड़ा। जापान ने शस्त्र डाल दिये, जर्मनी और इटली भी पराजित हुए। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति की तरह द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त होने पर संसार के भिन्न-भिन्न देशों ने मानवता और सभ्यता के नाम पर भविष्य में युद्धों को बंद करने की कोशिश आरम्भ की। विश्वशान्ति के नाम पर सुरक्षा-परिषद् और तरह-तरह के संगठन बनाये गये। पर साथ-साथ अपने-आपको सभ्य और शान्तिप्रिय कहलाने वाले रूस, अमेरिका, इंग्लैंड इत्यादि देशों ने अधिक से अधिक मनुष्यों का शीघ्रातिशीघ्र संहार करने वाले अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ों को और भी तेज कर दिया। अणुबम से उन्नति करके परमाणु बम, हाइड्रोजन बम और राकेटतक तैयार किये। मानवता के नाम पर अपील करने तथा सभ्य एवं प्रगतिशील कहलाने वाले देशों के राजनीतिज्ञों और विशेषज्ञों ने सारे संसार को ज्वालामुखी-पर्वत पर खड़ा कर दिया। न मालूम कब यह ज्वालामुखी फट पड़े तथा संसार, और हो सकता है इन भीषण अस्त्र-शस्त्रों के बनाने वाले भी, उसी की ज्वालाओं से भस्म हो जायँ।

अहिंसा का प्रभाव

संसार के शान्तिप्रिय विचारक और सहृदय लोग इस मानव-विनाश के साधनों की होड़ से चिन्तित हैं। इस सर्वनाश को रोकने के लिये अहिंसा, सह-अस्तित्व और पंचशील आदि उपाय बताये जाते हैं। यदि ईमानदारी से अमल हो तो विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये अहिंसा एक अमोघ साधन है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में लिखा है-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

'अहिंसा में स्थित होने पर अहिंसक योगी के समीप (सहज वैर रखने वालों का भी) वैर छूट जाता है।'

हमारे देश में भी ऐसे योगी महापुरुष हुए हैं, जिनके आश्रमों के निकट सिंह और हिरन साथ-साथ रहते थे। कुछ वर्ष पहले ही वनों में रहने वाले ऐसे महापुरुष थे, जिनके चारों ओर दूर-दूर तक किसी भी पशु पर चलायी हुई गोली

व्यर्थ जाती थी, या बंदूक चलती ही नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे समय का उल्लेख मिलता है जब कि न राजा थे न राज-दण्ड, अपितु अहिंसा और प्रेम के कारण जनता ही सारे सांसारिक व्यवहार बिना किसी कानून और दबाव के स्वयं करती थी। प्रसिद्ध विचारक श्री एच० जी० वेल्ज ने 'आने वाली बातें' पुस्तक में विश्वशान्ति के भविष्य की बाबत लिखा है कि 'जब युद्ध के वर्तमान साधन और विज्ञान के दुष्प्रभाव समाप्त हो जायँगे, मानवशक्ति से ही उपयोग में आने वाले चक्की, चूल्हे, चरखे, गाड़ी आदि ही साधन होंगे, तब संसार के लोग भाई-भाई की तरह मिलकर विचार करेंगे। संसार से युद्धों का भय दूर होगा। सब लोग भाई चारे से बसेंगे।' लार्ड टैनीसन्‌ने भी 'मेरा स्वप्न' कविता में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।

साधारण उपायों से इतने बड़े संसार में शान्ति स्थापित करने में शीघ्र सफलता मिलने की सम्भावना नहीं। अत्यन्त प्रभावशाली 'अहिंसा-साधना' की आवश्यकता है। यदि दृढ़ सिद्धान्तों को सम्मुख रखते हुए कार्य आरम्भ कर दिया जाय तो आज नहीं कल, सबेर नहीं कुछ देर में, अवश्य सफलता मिलेगी-

'स्वरूपमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

इस धर्म का थोड़ा व्यवहार भी बड़े भय से रक्षा करता है, करेगा। आज हमारे देश के कुछ प्रभावशाली सज्जन बार-बार अहिंसा का उपदेश देते हैं। पर फिर भी बैर, कलह और अशान्ति बढ़ती जा रही है। जाति, प्रान्त, भाषा इत्यादि के नाम पर नित्य वैमनस्य के कारण उत्पन्न होते जा रहे हैं। प्रश्न होता है कि "अहिंसा का सिद्धान्त मानने पर भी यह दोष क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसा की परिभाषा क्या है, अहिंसा किसे कहते हैं, अहिंसा के प्रचारक नेता उस पर कहाँ तक अमल करते हैं।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा की दुहाई देने वाले कुछ सज्जन अपने विरोधियों के विरुद्ध कटु शब्दों का प्रयोग करते, गोलियों और लाठियों के द्वारा शान्ति स्थापित करने की कोशिश करते, स्वयं मांस खाते और मांस को प्रोत्साहन देते हैं, कुछ लोकगपशु-पक्षियों की हिंसा को हिंसा नहीं मानते, केवल मनुष्य तक ही हिंसा को सीमित रखते हैं। पर यह ठीक नहीं। महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा को मनुष्य के हृदय को शुद्ध और ज्ञान का प्रकाश करने वाला 'सार्वभौम महाव्रत' बतलाया है। महर्षि व्यास ने महर्षि पतंजलि की अहिंसा का भाष्य करते हुए कहा है-

सर्वथा सर्वदा प्राणिनामविद्रोहोऽहिंसा।

अर्थात् सदैव सब प्रकार से प्राणिमात्र के प्रति विद्रोह या उन्हें नुकसान पहुँचाने की भावना न रखना अहिंसा है। 'अहिंसा' और 'हिंसा' दोनों शब्द बहुत प्राचीन हैं। 'हिंस्' धातु का अर्थ है- मारना। वेद का एक महान् आदर्श है- 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' प्राणीमात्र की हिंसा मत करो। योगदर्शन के सूत्र २।३४ में लिखा है-

हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता......

तथा मनुमहाराज ने

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका:।।

-स्वयं हत्या करने वाले को ही नहीं, समर्थन करने और अनुमति देने वाले इत्यादि को भी हत्यारा बतलाया है। भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण धम्मिय सुत्त में लिखा है-

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा।

पसूनं च समारम्भा अट्ठानवति मागमुं।।
सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भावन्ति मच्चुनो।
अन्नानं उपर्भ कत्वा न हनेय्यं न घयेत।।

'पहले तीन ही रोग थे-इच्छा, भूख और जरा या बुढ़ापा। पशुओं की हिंसा से वे अट्ठानवे हो गये। दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भयभीत होते हैं। औरों को भी अपने जैसा ही समझकर न उनका हनन करें न आघात करें।'

सम्राट् अशोक ने, जिनका चक्र-चिन्ह हमारे देश के राष्ट्रध्वज में रखा गया है, गिरनार के शिला शासन में प्राणीमात्र की हिंसा का निषेध किया है। सम्राट् अशोक और हर्ष के समय में पशुहत्या करने वालों को प्राणदण्ड तक की सजा दी जाती थी। जैनधर्म के पंच महाव्रतों में अहिंसा-व्रत आद्य माना गया है। जैन मुनियों के उपदेशों से कुछ मुसलमान बादशाहों ने भी विशेष दिनों तथा विशेष स्थानों पशुहत्या पर प्रतिबन्ध लगाया। जैनधर्म में सूक्ष्म प्राणियों की हत्या और उन्हें कष्ट देने तक का निषेध किया गया है। चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय देश भर में प्राणी-हिंसा नहीं होती थी। दूसरे चीनी यात्री हेनसाँग ने हर्ष तथा शिलादित्य के समय प्राणीमात्र के हिंसा-निषेध का उल्लेख किया है। हिंदू, जैन और बौद्ध ही नहीं, ईसाई और मुस्लिम महापुरुषों ने भी हिंसा को प्रोत्साहन नहीं दिया।

महात्मा ईसा कहते हैं-

"Thou shalt not kill, and ye shall be holy men unto me; neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field."

'किसी को मत मार। जंगलों के प्राणियों का वध करके उनका माँस मत खा।'

बाइबिल के एक अवतरण में आया है-'मारे जाने वाले जानवरों के लिये अपनी जबान खोलो।'

कुरान-शरीफ में लिखा है-

'हरा पेड़ काटने वाले, जानवर को मारने वाले इत्यादि को खुदा माफ नहीं कर सकता। खुदा उसी पर दया करता है, जो उसके बनाये जानवर पर दया दिखाता है।' सुरात-ए-हज में लिखा है--खुदा तुम्हारी कुर्बानी में जानवर का माँस और लोहू नहीं चाहता, वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है'।

उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह सिद्ध होता है, कि हिंदू-जैन ही नहीं, ईसाई एवं मुस्लिम मतानुसार भी मनुष्य ही नहीं, प्राणी मात्र को कष्ट न देना, न मारना अहिंसा है। अहिंसा का सीमित अर्थ मानने के और कारण भी हो सकते हैं, यहाँ इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है-

बाइबल में संत ल्यूक की वार्ता में जब संत जान से सिपाही कहते हैं 'कि क्राइस्ट आने वाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये ?' इसके उत्तर में वे तीन आज्ञा करते हैं-किसी मनुष्य पर बल प्रयोग (Violence) नहीं करना, किसी पर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हें जो रोजी मिलती हो, उसी में संतुष्ट रहना। वर्तमान में जो अहिंसा का प्रयोग non-violence के अर्थ में किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तार के कारण ही किया जाता है। अंग्रेजी के (non-violence) का बल-प्रयोग न करना, यह अर्थ ही मौलिक है। खास करके राजनीति में इस शब्द के आ जाने के कारण 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्द मनुष्य की हिंसा के लिये ही

लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है और सामने वाले को चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारों का प्रयोग करना, अथवा किसी के साथ युद्ध या लड़ाई करने के प्रसंग में इसका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जैसे सत्याग्रह और Passive Resistance का अर्थ एक नहीं। वस्तु को यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है। उदाहरण के लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थ में मनुष्येतर प्राणियों की हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है। पर आज हमारे अपने देश में, जिसकी संस्कृति 'अहिंसाप्रधान' रही है, जहाँ आज भी करोड़ों मनुष्य प्राणी-हत्या को हिंसा मानते हुए माँस का किसी रूप में व्यवहार नहीं करते, उस देश में आज सरकारी स्तर पर पशुहत्या-मछली, मुर्गी, बंदर इत्यादि के बध को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कत्ल किये पशुओं के अंगों से दवा तक तैयार करने की योजनाएँ बन रही हैं। राज्य तथा राज्य समर्थन प्राप्त करके प्राणी-हिंसा बढ़ाने वाले साहित्य-प्रकाशन में सहायता दी जा रही है। फिर भी, राजनीतिक लोग ही नहीं, उनके प्रभाव में आने वाले कुछ धार्मिक साधु-संत और विद्वान् भी बढ़ी हुई प्राणी-हिंसा की उपेक्षा करके अहिंसा का नाम लेकर प्रकारान्तर से जीवहत्या को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दे रहे हैं।

वाचिक अहिंसा तथा अमली हिंसा का दुष्परिणाम

बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और धर्म का नाम लेने वालों के बार-बार अहिंसा का उपदेश देने पर भी प्राणियों का वध जारी रहने या उसे प्रोत्साहन देने के कारण मनुष्य तक सीमित अहिंसा के प्रचार से कोई लाभ नहीं पहुँचा, हानि ही हो रही है। गाँव-गाँव, नगर-नगर में एकता नहीं, परस्पर दुर्भावना बढ़ रही है, देश का वायुमण्डल विषैला बन गया है। प्रान्तवाद, जातिवाद, पक्षवाद और भाषावाद के कारण मनुष्य, मनुष्य का शत्रु बन गया है। शासक-दल भी परस्पर के कलह और वैमनस्य से नहीं बचा। प्रान्त-प्रान्त में शासकदल के लोग छोटी-छोटी बातों के लिये परस्पर लड़ रहे हैं। शासन और जनता में सद्भावना और सहयोग न होने के कारण साधारण बातों के लिये विरोधी आन्दोलन न होने के कारण साधारण बातों के लिये विरोधी आन्दोलन होते रहते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि हमारा आज का अहिंसा-प्रचार दोषपूर्ण होने के कारण जनता पर उसका कोई प्रभाव नहीं है।

अन्य प्राणी भी मनुष्य की तरह प्राण धारण करते हैं, जीव हैं। जो व्यक्ति किसी भी प्राणी से द्वेष रखता या उसकी हत्या करता-कराता है, उसके हृदय में प्रेम तथा सद्भावना जाग्रत नहीं हो सकती, हिंसा की दुर्भावना ही रहती है। और जब तक प्राणीमात्र के प्रति अविद्रोह या प्रेम की भावना उत्पन्न नहीं होगी, तब तक मानव मानव के बीच भी अहिंसा का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है-

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।'

'जो काम अपनी आत्मा को बुरा लगता है, उसका अमल अन्य प्राणियों के साथ न करो।' 'दूसरों के उपकार के समान कोई पुण्य नहीं और दूसरों को दुःख देने के समान कोई पाप नहीं है।' ये अहिंसा के मूलमन्त्र हैं। इन पर अमल करने से ही शान्ति प्राप्त होगी।

जब तक पशुवध या मांसाहार जारी रहेगा, तब तक न युद्ध बंद होंगे न मनुष्यों में परस्पर सद्भावना बढ़ेगी। संसार के प्रसिद्ध विचारक श्रीजार्ज बर्नार्ड शा ने लिखा है-'यदि हम निरीह पशुओं के साथ अपने लाभ के लिये इसी प्रकार का खिलवाड़ करते रहेंगे तो संसार में जिस शान्ति के लिये हम इतने उत्सुक हैं, उसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हम वध किये पशुओं की शत-शत कबरों पर खड़े होकर ईश्वर से शान्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, जब कि हम नैतिक नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। इस प्रकार की क्रूरता युद्ध को जन्म देती है।'

महाभारत, अनुशासन पर्व और मनुस्मृति में मांस खाने वालों के लिये लिखा है-

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः।।

'जो मनुष्य दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और कोई नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अविश्वास्योऽवसीदेत् स इति होवाच नारदः।।

श्री नारदजी कहते हैं 'जो दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह विश्वासपात्र नहीं रहता, उसे दुःख उठाना पड़ता है।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिचछति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते।।

'जो दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, सदा बेचैन ही रहता है।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं-

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवनैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः।।
मांसं भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनु बुद्ध्यस्व भारत।।
घातका हन्यते नित्यं यथा बध्येन बन्धकः।।

'जो जीवित रहने की इच्छावाले प्राणियों का मांस खाते हैं, वे भी उन प्राणियों के द्वारा दूसरे जन्म में खाये जाते हैं- मुझे इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है। युधिष्ठिर ! जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है-'आज मुझे वह खाता है, तो मैं भी उसे कभी खाऊँगा।'

जाताश्चाप्यवशास्तत्र भिद्यमानाः पुनः पुनः।
हन्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगर्द्धिनः।।
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च त्रस्यन्त्यन्ये पुनः पुनः।।

'मांस-भक्षी जीव कहीं जन्म लेने पर भी परवश होते हैं, वे बार-बार शस्त्रों से काटे जाते और पकाये जाते हैं, उनकी यह दुर्गति प्रत्यक्ष देखी जाती है।'

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते।।

'जो निरपराध प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह जीवित अवस्था में और मरने के बाद भी सुख नहीं पाता।'

उपर्युक्त शास्त्र-वचनों से यह सिद्ध होता है कि जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें उसके पापस्वरूप अनेक प्रकार के कष्ट ही नहीं भुगतने पड़ेंगे, अपितु जिन पशु-पक्षियों का मांस उन्होंने खाया है, वे पशु-पक्षी दूसरे जन्म में उनका मांस खायेंगे। युद्धों के क्रम बंद नहीं होंगे। जब तक मनुष्य पशुहत्या और मांसाहार के पाप को नहीं छोड़ेगा, तब तक युद्धों का कष्ट और विनाश बंद नहीं होगा। यह संदेह कि मांसाहार या

पशुहत्या बंद होने पर देश की खाद्य तथा सुरक्षा की समस्या पर दुष्प्रभाव पड़ेगा, ठीक नहीं है। इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सदस्य स्वर्गीय श्रीपीटर फ्रीमैन ने इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए लिखा है-

खाद्य तथा सुरक्षा की समस्या

समय आ रहा है कि मांस खाना राक्षसपन की तरह बुरा समझा जायेगा। यह संसार केवल मनुष्य के उपभोग के लिये नहीं है। यह सारे जीव-जन्तुओं की जागीर है और मनुष्य इसका ट्रस्टी या रक्षक है; क्योंकि वह अधिक उन्नति कर चुका है।

श्रीफ्रीमैन ने प्रश्न किया कि हर-वर्ष दो करोड़ नये पैदा होने वाले मुखों का क्या किया जाय ? आवश्यक तौर पर उन्हें मांसाहारी बनाकर उनका पालन नहीं किया जा सकता। आपने इस सारी समस्या का हल शाकाहारी भोजन बताया और निम्नलिखित आँकड़े पेश करके यह सिद्ध किया कि उतनी भूमि में अधिक मात्रा में अच्छा शाकाहारी भोजन पैदा किया जा सकता है, जितनी भूमि में मांसाहारी भोजन कम पैदा होता है।

एक एकड़ भूमि में प्रतिवर्ष निम्नलिखित चीजें पैदा हो सकती हैं-

मांसाहारी भोजन	पौंड	शाकाहारी भोजन	पौंड
गोमांस	१६८	गेहूँ-जौ आदि	२०००-२०५०
बकरे का मांस	२२८	सेम,मक्की आदि	३०००-४०००
सूअर का मांस	३००	आलू	२००००
मुर्गियाँ	३५०	गाजर	२५०००
		शलगम	३००००

इससे पता चलता है कि मांस के आँकड़ों से अन्न के आँकड़े दस गुना और सब्जियों के आँकड़े १०० गुना अधिक हैं। आपने एक प्रश्न के उत्तर में बताया कि देश की हर एकड़ भूमि में फलदार पेड़ आसानी से लगाये जा सकते हैं।

आपने अपने तर्क की पुष्टि के लिये इंग्लैंड के कृषि-विषयक वैज्ञानिक सलाहकार श्रीजेम्स स्काट वाटसन का वक्तव्य, जो उन्होंने दिसम्बर १९५२ में बकिंघम में दिया था, उपस्थित किया। वक्तव्य का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है-

'बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य की व्यवस्था करने का तरीका यह है कि मांस के स्थान पर सब्जियों और दूध आदि का प्रयोग किया जाय और दूसरा यह है कि जो अधिक मात्रा में मांस प्रयोग करते हैं उनकी आदतों में तबदीली लायी जाय। इस बात का अनुमान लगाया गया है कि यदि हम शाक आदि को ही प्रयोग में लावें तो हम करीब-करीब स्वावलम्बी बन सकते हैं।'

उन्होंने इस बात का जिकर किया कि प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में डेन्मार्क पूरे तौर पर शाकाहारी देश बन गया; क्योंकि वहाँ के अधिकतर पशु मर चुके थे और बाहर से मांस आदि मँगाया नहीं जा सकता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के अन्त में वहाँ के स्वास्थ्य के आँकड़े यूरोप में सबसे अच्छे रहे।

१९३२ में लीग आव नेशन्स ने १२ राष्ट्रों की एक कमेटी बनायी, जिसमें इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, स्वीडन आदि देश शामिल थे। इस कमेटी के जिम्मे इस बात की जाँच करने का काम लगाया गया कि युद्ध के दिनों में एक सैनिक के लिये मांस का कम-से-कम कितना आवश्यक राशन चाहिये। उसका उत्तर यह दिया गया कि मनुष्य मांस के बिना निर्वाह कर सकता है, इसलिये मांस आवश्यक नहीं।'

श्रीफ्रीमैन ने मांसाहारियों को इस बात की

चुनौती दी कि वे पशुओं का मांस खाने का एक भी ठोस कारण पेश करें। आपने कहा 'जो भी व्यक्ति मांस खाना जारी रखेगा, वह तीसरे विश्वयुद्ध को समीप लाने का कारण बनेगा; क्योंकि कुछ लोगों को न केवल कम भोजन मिलेगा, बल्कि वे भूख से मर जायेंगे और जो शाकाहारी बन जायगा, वह संसार में शान्ति कायम रखने में सहायता देगा।'

हमारे अपने देश में अशोक, हर्ष आदि के समय, जब प्राणिवध कतई बंद था, न खाद्य की कमी हुई और न सुरक्षा के साधन कमजोर हुए। उन दिनों किसी विदेशी ने आक्रमण करने की हिम्मत तक न की। जो लोग यह कहते हैं कि सैनिकों के लिये मांस-भोजन आवश्यक है, ठीक नहीं कहते। उत्तर भारत के जाट, अहीर, गूजर आदि जो प्रायः मांस नहीं खाते, वे मांस भोजी सैनिक जातियों से किसी प्रकार भी शारीरिक शक्ति और युद्ध करने के उत्साह में कम नहीं। ६ नंबर जाट पलटन ने प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस के मोर्चे पर मांस खाने से इन्कार करके चने-गुड़-सब्जी पर गुजारा किया और दूसरे मांस भोजी सैनिकों से अधिक सफलता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि निरामिषभोजी भी किसी अन्य से कम अच्छे सैनिक नहीं। अतः मांसाहार जारी रखने के लिये सुरक्षा और खाद्य समस्या की आड़ लेना ठीक नहीं।

हृदय की शुद्धि या आध्यात्मिक उन्नति

प्राणि-विज्ञान के विशेषज्ञों के मतानुसार मनुष्य के दाँत, जीभ एवं आहार-पाचन करने के अंगों को दृष्टि में रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, शाकभोजी जीव हैं। अतः मनुष्य के लिये मांस-भोजन प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक खाद्य है। मनुष्य का मन एक बहुत बड़ी शक्ति है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**-मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का मुख्य कारण है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है। **आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।** आहार या भोजन के शुद्ध होने पर मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होने से स्मृति या स्मरण शक्ति स्थायी रहती है। जिसकी स्मरण शक्ति स्थिर है, वह प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे प्रायः सभी शाकाहारी थे। दूसरे का शोषण करना, साधन और शक्ति होने पर भी प्राणिमात्र के कष्ट को दूर करने की कोशिश न करना, दूसरे के कष्ट का अनुभव करके दया की भावना का उत्पन्न न होना इत्यादि भी हिंसा के ही अंग और कारण हैं। पर सबसे बड़ी हिंसा है प्राणी से प्राण का वियोग करना कराना इत्यादि। जो सज्जन मानव-मानव में सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करना चाहते हैं, जो युद्धों को बंद करने की इच्छा रखते हैं, उनकी सेवा में नम्र निवेदन है कि वे अपने ही देश की नहीं विश्व की शान्ति के लिये भी प्राणिमात्र की हत्या और कष्ट को दूर करने के लिये यत्नशील हों। अन्यथा, जैसा कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने कहा है-

'गवादि पशुओं के नष्ट होने से राजा और प्रजा दोनों का विनाश हो जाया करता है।' इस वाक्य को सम्मुख रखते हुए राजा और प्रजा को विनाश से बचाने के लिये पशुओं की हत्या को बंद करावें। विश्वशान्ति का अमोघ उपाय है अहिंसा या प्राणिमात्र को न कष्ट देना, न मारना, न मरवाना।

अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः।

❊❊❊

भोग में योग

पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री,

योग-विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्यों ने इसकी पृथक्- पृथक् परिभाषाएँ की हैं । योग जैसे गहन और दुरूह विषय में पूर्वाचार्यों के अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकार से समीक्षण किया जाना भी एक प्रकार से उसके महत्व का सूचक है। 'योग' शब्द प्रसंगाधीन अनेक अर्थों में पाया जाता है । अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं । कोई योग का अर्थ समाधि करता है तो किसी के मत में अष्टांगयोग द्वारा चित्त वृत्ति का निरोध करना ही योग है । कुछ लोग योग का अर्थ सहकार करते हैं तो किसी के मत में 'योग' नाम दो भावों के संयोग या मिलाप का है । गवेषणा पूर्वक निरीक्षण करने से पता चलता है कि योग का अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। यह चाहे किसी अभिप्रेत-अभीष्ट के मिलाप के लिये हो या स्वतन्त्र हो किन्तु योग का अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण है। लोक में भी योग का अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुक ने तो मानो संसार से योग ही ले लिया हो; ऐसा लोग कहते हैं। संन्यास योग, सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दों पर से स्थिर होता है कि योग शब्द त्याग मात्र में पर्यवसित है। क्योंकि एक के त्याग बिना दूसरे का मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग है क्या पदार्थ ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा ?' यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषय में विद्वानों के अनन्त मतभेद पाये जाते हैं- जैसे अष्टांगयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, संन्यास योग, सांख्य योग, समाधि योग, क्रियायोग इत्यादि शतशः नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु ध्येय सबका एक है। वह है 'ऐहिक पदार्थों के प्रति अनासक्तिपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' इस पर किसी का वैमत्य नहीं। अतः सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षा का परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्ति को वासना त्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासना का सम्यक् लय करना योग का काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकार से किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थ का स्वरूप से त्याग और कामना और वासना-त्याग। इस विश्व की विचित्रता और व्यापकता को देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासना द्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोग द्वारा जंगल में जाकर या अन्य क्रियाओं द्वारा संसार का स्वरूप से त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूप में संसार का अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत् का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत् का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीर द्वारा ही पञ्चभूतों का त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्याग को ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासना त्याग के लिये जंगल में जाने की या अमुक क्रिया करने की जरूरत नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्म स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न वासना का त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवन की चंचलता को नष्ट कर समता के साम्राज्य में विचरना होगा। **'समत्वं योग उच्यते'** का पालन करना होगा; **'सर्वमनास्था लखु'** की धारणा दृढ़ करनी होगी; ऐहिक ऐश्वर्यों को पाकर भी पद्मपलाशवत् निर्लिप्त रहना होगा; जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा; सच्चा जनक विदेह बनना होगा; तभी भोग में योग का आनन्द प्राप्त होगा, गृह में जंगल से अधिक मंगलमय जीवन व्यतीत होगा। इसी का नाम योग है। हठयोग द्वारा किसी वृत्ति को समूल नष्ट करना या किसी वृत्ति विशेष की उत्पत्ति के पूर्व ही उसको नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं। दमन का नाम यथार्थ त्याग नहीं; बल्कि वह त्याग का उपहार मात्र है। त्यागशक्ति की दुर्बलता का परिचय देना तो एक प्रकार से योग की अवज्ञा करने के बराबर है।

किसी प्रकार प्रश्न-पत्रों को प्राप्त कर लेना, किसी से पूछ लेना अथवा आत्मघात का भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेने को 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते। इसी प्रकार जन्म से ही दूर रहकर हठयोग द्वारा वृत्तियों का दमन कर वासनालय या आसक्तित्याग प्राप्त करना योगी का काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभवसरोवर में खड़ा होकर भी अपने को सूखा रख सके; उसकी तरंगों का रंग न चढ़ने दे; विषयद्वन्द्व में भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात दीपकी भाँति चित्त को निश्चल और मन को एकाग्र रखें। विषय रस को नीरस बना दे। किसी ने कहा भी है–

ईंधन विहूनी आग राखिबे को जतन कहा,
ईंधन में आग राखे वाही को जतन है।
इन्द्री गलित करें, कहाँ कौन साधपनो,
इन्द्री बलित बाँधे सोई साधपन है।।
'अक्षर अनन्य' बिन विषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करें त्याग सोई बैराग मन है।
घर छोड़ बन जोग माँडन को निहोरो कहा,
घर ही में जोग माँडे सोई गुरुजन है।।

वास्तव में योग विषयक 'अक्षर अनन्य' कवि के उपर्युक्त पद्य का भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं तब त्याग किसका ? बलात् इन्द्रियों का दमन करना ही योग की विडम्बना है। तृण के अभाव में अग्नि का रखना, 'अग्नि की यथार्थ रक्षा' नहीं। तृण समूह के होते हुए अग्नि को सुरक्षित रखने का नाम ही रक्षा है। कमल जल में वास करता है किन्तु जल में लिप्त नहीं। जो गृह में रहकर भी गृह में लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं, वही सच्चा योगी है। किसी ने सत्य कहा है–

पंकज ज्यों जलमाँहिं बसै,
तो पै भिन्न रहे, जल परस न लावे।
हंस बसै सर माँहिं सदा,
पै छीर भखै नीरहि बिलगावे।।
व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी,
पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे।

भोग न बाधि सकै तिमि योगी
जो भोग में योग समाधि लगावे।

शुद्धान्तःकरण और सात्विक अन्न भोगी के चित्त में कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी ? वह चाहे जिस आश्रम में बसे, किसी से कम नहीं। चित्त वृत्ति के निरोध का नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगों के शान्त होते ही **'नोद्वेजति न च द्वेष्टि योगी** विगतकल्मषः' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोग में योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारों को शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणी को योगी बना सकेंगे। जहाँ तक चित्त चंचलता और विक्षेप का नाश नहीं वहाँ तक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्म साक्षात्कार कैसा ? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समता में है। तराजू के किसी पलड़े में यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगी की है। मन की तरंगों का रंग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ ? चित्तवृत्ति में विक्षेप का प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया कराया सब धूल ! अतः यदि भोग में योग प्राप्त करना है तो चित्त में विक्षेप का प्रवेश मत होने दो, मन के विकारों को नष्ट करो, कल्पना को मिटा दो, उदासीनता का सेवन सीखो, जंगल में नहीं किन्तु घर में ही सच्चे जनक विदेह बनो। कौन कहता है कि भोग में योग नहीं हो सकता ? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायेगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। सन्तोष आप का मित्र होगा, फिर भय किसका ? कल्पना-काल का अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये-'जल में नहाइये, कोरे रहिये, अन्तर में कीजे बास'। अब शेष क्या रहा ? विशुद्धान्तःकरण मनुष्य को कुछ भी दुर्लभ नहीं-

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति।।

कल्पना, काल एवं विक्षेप रूप शत्रु को जीतने वाला, शान्ति के साम्राज्य में स्थिरचित्त हो निश्चित विचरने वाला यदि भोग में योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा ? अरे, बन्धन तो वासना में है; जब वासनालय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है। और वासना रहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोगबन्धन कैसे हो सकता है।

वासनालिंगसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः।
वासनालिंगनिर्लिप्तो योगो जाग्रदवस्थका।।

※※※

जातिस्मरता से दृढ़तर वैराग्य की प्राप्ति

डा० विजय सिंह

"संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जातिज्ञानम्"

पा०यो० ३/१८

संस्कारों का साक्षात्कार होने से पूर्व जन्म की स्मृति हो आती है।

योग दर्शन के इस सूत्र में योगी द्वारा संस्कारों में संयम से पूर्व जन्म की स्मृति प्राप्त होना बताया गया है। श्री सद्गुरु चरणों से प्राप्त मंत्र का दृढ़तर अभ्यास एवं ध्यानाभ्यास से साधक को अपने पूर्व जन्म-जन्मान्तरों का स्पष्ट ज्ञान होता है। पुराणों में सैकड़ों ऐसे प्रसंग मिलते हैं जो जात्स्मरता को सिद्ध करने वाले हैं। भगवती सती के पति शिव की अवज्ञा उनके पिता दक्ष द्वारा किये जाने पर अपना शरीर योगाग्नि से दग्ध करके अगला जन्म देवात्मा हिमालय की पुत्री के रूप में लेती है। उन्हें पूर्व जन्म का पूरा बोध नारद ऋषि से दीक्षा प्राप्त करने पर होता है।

अहं हिमाचल सुता साम्प्रतं नाम पार्वती।
पुरा दक्षसुता जाता सतीनामान्यजन्मनि।।

❋ ❋ ❋

अत्र जन्मनि सम्प्राप्त: शिवोऽपि विधि वैभवात।।

अर्थात्-इस जन्म में मैं हिमाचल की पुत्री हूँ, मुझे लोग पार्वती कहते हैं। पूर्वजन्म में मैं दक्ष प्रजापति की कन्या के रूप में थी। उस समय मेरा नाम सती था।

जब मनुष्य शरीर-त्याग करता है, तब इस जन्म की विद्या, कर्म और पूर्व वासना आत्मा के साथ ही उत्क्रान्त करती हैं। अगले जन्म के निर्धारण के बारे में योग सूत्र का कथन है-

क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टा दृष्टजन्मवेदनीय:।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा: ।। (२/१२-१३)

कर्मों के परिणामों द्वारा जाति, आयु और भोगों का निर्धारण बताया गया है।

श्री गुरुदेव भगवान के **"दिव्य जीवन दर्शन"** नामक पुस्तक में जब वे श्री महाप्रभु श्री रामलाल जी से पूछते हैं कि प्रभो ! हम लोग कहाँ से आये हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में महाप्रभु जी ने कहा ध्यान लगा कर देखो।

ऋषिकेश गंगा तट पर पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था वाले हमारे श्री गुरुदेव अपने प्रभु की आज्ञा से ध्यानस्थ हुये। देखा कि उनके शरीर का वयमान सैकड़ों वर्ष पुराना है। गण्डकी नदी के

पश्चमी तट पर श्री कृष्ण मंदिर से लगा एक कुटियों का आश्रम है। दो एक ब्रह्मचारी सेवा भाव से आश्रम की देखभाल करते हैं। प्रवाहमान गण्डकी के दोनों तटों पर घनघोर जंगल है। गोले-गोले पत्थरों का अम्बार नदी के दोनों तटों पर वर्षा ऋतु के उफान में बहकर आकर बिछ गये हैं। एक जरा जीर्ण लकड़ी का पुल इस पार से उस पार जाने हेतु है। उसी से होकर प्रातः सायं कृत हेतु मैं नदी के पूर्वी तट पर जाता हूँ। उस समय इस देह एवं व्य का बोध नहीं था। था तो केवल अतीत जन्म का बोध। इसी पुल के पूर्वी तट पर एक शिवालय घनघोर जंगल में अवस्थित है। काल बीतता रहा। दो-तीन बार भगवती महामाया के दर्शन हुये। शरीर त्याग का समय आया। पूर्व इच्छानुसार योगविधि से शरीर त्याग व्योम में विचरण करता रहा। उत्तम काल में अलपुर में इस जन्म की माँ के गर्भ में प्रवेश प्राप्त हुआ। जन्म होने के बाद भी भगवान श्री कृष्ण के मैत्री भाव में स्थूल संग होता रहा।

यह सब विकरण साक्षात् विशुद्ध जाति स्मरता का सुन्दर उदाहरण है। जातिस्मरता और इस जन्म के तिरोधान काल का ज्ञान जब साधक को हो जाता है। उस समय से उसके अन्तः करण में वैराग्य की धारा बहने लगती है। सारे सम्बन्ध वर्षा काल में दूर-दूर से बहते चले आ रहे लकड़ियों के ढेर जैसे कुछ काल के लिये अलग-अलग समूहों में कहीं-कहीं इकट्ठे होते दिखाई देते हैं परन्तु उन्हें कुछ ही काल बाद वायु के थपेड़े अलग-अलग कर देते हैं।

जाति स्मरता कैसे प्राप्त हो सके कुछ उपाय शास्त्रों में बताये गये हैं। वैज्ञानिक विधि तो भगवान पातंजलि ने संस्कारों के साक्षात्कार द्वारा बताये हैं। जैसा ऊपर आरम्भ में बताया गया है। परन्तु कुछ और भी पुण्यात्मक कर्म ऐसे हैं जिन्हें करने पर जातिस्थरता एवं मृत्यु ज्ञान हो सकता है।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्।। मनु० स्मृति ४/१४२

अनवरत वेदाभ्यास, शुचिता कायिक एवं मानसिक तथा तप द्वारा पाप क्षय होने से वा प्राणियों के प्रति द्रोह, त्याग से साधक पूर्व जन्म की स्मृति को प्राप्त होता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है कि मृत्यु के समय जिसका मन सत्वगुण में स्थित हुआ ईश्वर चिन्तन में लगा होता है उसे अगले जन्म में सभी पूर्व जन्मों की स्मृति हो जाती है। जिसके कारण उसे विषयों में दृढ़तर वैराग्य होकर परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है-

शरीर संक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम्।
अविप्लुतमतिः सम्यक् स जातिस्मरतामियात्।।

श्रीमद्भागवत में देवर्षि नारद, राजानुग, असमंजस तथा गजेन्द्रादि को हरिभक्ति एवं योग साधना से प्राप्ति जातिस्मरता की कथा वर्णित है। सारे पुराणों में अनेक कथायें जाति स्मरता की आयी हैं।

श्री गुरुदेव भगवान अपने योग प्रचार के अनुभव प्रवचनों में वर्णित करते थे। हमारे कई गुरुभाई बहनों को जातिस्मरता एवं मृत्यु ज्ञान होने के कारण दिव्य गति की प्राप्ति हुई। भाई अशोक शर्मा, बाबू राजनारायण सिंह, आदि-आदि के उद्धरण स्वयं गुरुदेव भगवान सप्रमाण प्रवचनों में बताया करते थे। अनेकादि ऐसे उद्धरण हैं जो घटित हुये परन्तु प्रकाश में नहीं आये। श्याम नारायण शुक्ल की यौगिक साधना एवं ऐच्छिक मृत्यु को वरण करके निश्चित पूर्वज्ञात घर में जन्म लेने की अलौकिक कथा हम सभी प्रभु बालक को प्राप्त है। श्री प्रभुजी का कथन है कि हमारे बच्चों को इतना अनुष्ठान आदि करके साधना पुष्ट कर लेना चाहिए कि उन्हें अपनी मृत्यु का कम से कम छः मास पूर्व ज्ञान हो जाये। जिससे दृढ़तर योगचर्या द्वारा पूर्व नियोजित योगमय जन्म प्राप्त कर सकें। अन्यथा ईश्वर की योगमाया जन्म लेते ही स्मृति पर आवरण डाल देती है। बड़े-बड़े महान पुरुषों के जीवन में भी इन्हीं कारणों से भटकाव आते देखा गया है। स्वयं अर्जुन को अपने पूर्व जन्मों का कोई ज्ञान नहीं था। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा यह कहे जाने पर कि इस योग को आदिकाल में सूर्य, विश्वान मनु आदि को मैंने ही दिया था। समय के प्रभाव से यह विद्या लुप्त हो गयी है। इसे पुनः तुम्हें बता रहा हूँ। इस पर अर्जुन ने संदेह किया कि विश्वान आदि बहुत पूर्व पैदा हुये हैं हमारा और आपका जन्म तो अभी का है। भगवान श्री कृष्ण ने कहा-

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परमतप।।

हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। परन्तु हे परंतप, उन सबको तू नहीं जानता है, मैं जानता हूँ। इसी प्रकार उपनिषदों में वर्णित योगिराज जैजिशव्य और आट्व्य की कथा है। मुनिराज ने पूछा-आट्व्य! तुमने अपने कितने पूर्व जन्मों का साक्षात्कार कर लिया है और हमें बताओ कि उन सब में तुम अधिक सुख को प्राप्त हुये हो अथवा अधिक दुख को। महामना आट्व्य का उत्तर था-प्रभो हमने चौदह सर्गों पीछे तक अपने संस्कार बीजों को देखा है। जिनमें अथाह दुःख के सिवाय कुछ नहीं है सुख भी जो है वह दुःख की ही छाया मात्र है।

निष्कर्षतः जातिस्मरता योग-विद्या द्वारा पूर्व जन्मों को ज्ञात करने की अपूर्व स्मृति-शक्ति का ही नाम है। अपने अनेक जन्म को जान लेने पर वर्तमान जन्म एवं संस्कार-भोग शिथिल पड़ जाते हैं तथा आवागमन के चक्र से मुक्त होने की प्रबल इच्छा जीव में जाग्रत होती है। गोस्वामी तुलसी दास की वाणी जीवन मंत्र बन जाता है-

अब लौं नसानी अब ना नसैहों,

***

जीवन तत्व साधन

(पिछले अंक से आगे)

यदि कोई रोग कीटाणु इतना बलवान व शक्तिमान हुआ कि वह थाइरायड ग्रन्थि के किले को भी विजित कर ले तो वह आगे बढ़कर सीधे हृदय पर आक्रमण कर देता है और मनुष्य की जीवन लीला समाप्त कर देता है। इस ग्रन्थि के आगे कोई ऐसा किला भी नहीं है जहाँ रोग कीटाणुओं को रोका जा सके। कहते हैं कि हैजे के कीटाणु इतने शक्तिवान होते है कि शरीर मे घुसने के साथ ही मिनटो मे लाखों करोड़ों की संख्या में बढ़ने लगते है और शरीर के लाल व श्वेत कीटाणुओं को मारते हुए और बीच की छावनियों को ध्वस्त करते हुए एक घण्टे मे थाइरायड ग्रन्थि पर पहुँच जाते है। शरीर मे लाशे ही लाशे हो जाती है और वे कै-दस्त के रूप मे बाहर निकलने लगती है। मनुष्य की शक्ति क्षीण होने लगती है। थाइरायड ग्रन्थि के सैनिक थोड़ा मुकाबला करते है मगर उस समय तक हैजे के कीटाणुओं की संख्या महाशंखो मे पहुँच जाती है। वे इस बड़े किले को भी विजिय करते हुए हृदय पर पहुँच जाते है और मनुष्य एक घण्टे में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से मालूम होता है कि हमारे शरीर के थाइरायड ग्रन्थि का कितना बड़ा महत्व है! रोग के कीटाणुओं का आक्रमण निरन्तर हुआ करता है; किन्तु हमारे शरीर के सैनिक उनको मार काट कर खा जाते है। यदि हमारी थाइरायड ग्रन्थियाँ मजबूत हैं तो किसी रोगाणु में इतना साहस नहीं है कि वह इस पर विजय प्राप्त कर सके। अतः रोगों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने थाइरायड ग्रन्थियों को बलवान व शक्तिमान बनाए रखें। स्कन्ध चालन से यह ग्रन्थि सशक्त बनी रहती हैं और उसमें रहने वाले सैनिक कभी भी युद्ध मे परास्त नहीं होते।

सर्वांग आसन करने से भी थाइरायड ग्रन्थियों को रक्त की विशेष मात्रा मिलने लगती है और वे बलवान बने रहते है। यदि जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को करने के बाद थोड़ा आराम करके सर्वांग आसन व मत्स्यासन कर लिया जावे तो थाइरायड ग्रन्थियाँ बहुत मजबूत हो जाती है और उनकी क्रियाशीलता बराबर बनी रहती है एवं तब तक मनुष्य नीरोग बना रहेगा और वृद्धावस्था नही आवेगी। सर्वांगासन-मत्स्यासन करने की विधि किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखी जा सकती है।

पग चालन

जीवन तत्व साधन की तीसरी क्रिया का नाम **पग चालन** है। इसको करने के लिए सीधे चित लेट जाना चाहिए। दोनों हाथ बगल में पड़े रहें। अब अपने एक पैर को दूसरे पैर के ऊपर रख कर उसे साधारण गति से हिलाना चाहिए। हिलाने का क्रम यह होगा कि पहले हम अपने दायें पैर को बायें पैर के टखने पर रखें और दाये पैर की एड़ी को जमीन से लगायें फिर बाये पैर के अंगूठे को जमीन में लगावें। दायी एड़ी को जमीन से लगाये फिर बाये पैर के अंगूठे को जमीन मे लगावें। दायी एड़ी जमीन से लगाते समय बायां अंगूठा उठ जायेगा और बायाँ अंगूठा जमीन पर लगाते समय दायी एड़ी ऊपर उठ जावेगी। इसी तरह एक बार एड़ी जमीन पर लगाते समय दायी एड़ी ऊपर उठ जायेगी। इसी तरह एक बार एड़ी जमीन से मिलावें, फिर अंगूठा। इसी तरह हिलाते रहे और कम से

कम चार मिनट तक इस क्रिया को करें। इसके बाद पाँव बदल लें अर्थात् बायें पैर को दाहिने पैर के टखने पर रखना चाहिए और बायें पैर की एड़ी और दायें पैर के अंगूठे को बारी-बारी से जमीन में मिलाते रहना चाहिए। इसको भी कम से कम चार मिनट तक करना चाहिए। अर्थात् पग चालन क्रिया को आठ मिनट तक करने का विधान है। इस क्रिया को आवश्यकतानुसार और अधिक समय तक किया जा सकता है।

यह क्रिया बहुत साधारण है और करने में सरल भी है किन्तु इसका लाभ बहुत है। इस क्रिया में कमर के नीचे के हिस्से शान्त पड़े रहते हैं। इस क्रिया से पाँव की नसें यथार्थ रूप से काम करने लगती हैं। जिन लोगों को कटि स्नायु बात या गृधसी (Sciatica का रोग हो उन्हें इस क्रिया से पूरा लाभ हो जाता है। पग चालन क्रिया का विशेष प्रभाव छोटी बड़ी आंतों पर तथा मूत्र वाहक संस्थान पर पड़ता है अतः इनकी बनावट व क्रिया के बारे में जान लेना आवश्यक है।

पोषण संस्थान (Digestive System)

इसके अन्तर्गत मुँह, गल कक्ष, पाकाशय, छोटी व बड़ी आँतें स्थूलांत्र का अन्तिम वक्राश, मलांत्र, क्लोम ग्रन्थि आदि आते हैं। यहाँ पर हम केवल छोटी बड़ी आँतों के सम्बन्ध में बतायेंगे। शेष भागों के सम्बन्ध में अन्य क्रियाओं के वर्णन के समय लिखेंगे। आँत या अंतड़ी पाक स्थली के निचले भागों में रहती है। ये टेढ़े-मेढ़े नल हैं। इस नली ने अनेक बार घूमकर उदर गुहा की बहुत सी घेर रखी है। आँतों के दो भाग होते हैं। एक छोटी आँत व एक बड़ी आँत।

क्षुद्र अंत्र (Small Intestine)

छोटी आँत की लम्बाई करीब २० फीट है। पाकस्थली से गले हुए भुक्त पदार्थ का पचा हुआ भाग इसी छोटी आँत में प्रवेश करता है। पाचन के समय इस आँत में पित्त कोष से पित्त रस और क्लोम ग्रन्थि से क्लोम रस आकार मिल जाता है। इस आंत से भी एक प्रकार का रस निकलता है। उसे अम्ल रस कहते हैं। पाक स्थली से पचा हुआ अंश आँतों में आने के बाद इस तीन रसों में ही पिसा करता है।

वृहत अंत्र (Large Intesine)

यह उदर के दाहिने निम्न भाग से आरम्भ होती है जिसे कोख कहते हैं और जिससे अंत्रपुट मिले हुए हैं। अधो क्षुद्रांत का मुँह अंत्रपुट में खुलता है और उस स्थान पर एक कपाट रहता है जिसको कालिक वाल्व कहते हैं। बड़ी आँत तीन भागों में विभक्त है। ऊर्ध्वगामी अंत्र भाग (Ascending colon) यकृत के भीतर से होती हुई ऊपर जाती है। यहाँ से यह टेढ़ी होकर घूमती है। उसे अनुप्रस्थ अंत्र भाग (Transverse colon) कहते हैं। इस तरह ऊपरी तलपेट को पार करती हुई प्लीहा प्रदेश में घुस जाती है। यहाँ से यह नीचे की ओर झुकती है और इसका नाम पड़ता है अधोगामी अंत्र (Descending colon) इसका सबसे निचला भाग क्रमशः जघनिया (बृहदंत्र) (Iliac colon) और श्रोणिक वृहदंत्र (Pelvic colon) कहलाता है। यह स्थान जहाँ बड़ी आँत झुकती है वक्र भाग कहलाता है।

भोजन पहले मुँह से पेट में आता है। पेट में पाचन क्रिया शुरू हो जाती है। पेट से भोजन छोटी आँतों में आता है। भोजन का पूरा पाचन छोटी आँत में ही होता है। छोटी आँत ही पचे खाद्य पदार्थ से रस खींच लेती है। और यह रस खून के परिभ्रमण में भेज दिया जाता है। भोजन का बचा-बचाया अंश जो प्राय: रस निकल जाने के बाद शरीर के किसी काम का नहीं है बड़ी आँत में आ जाता है। अगर कुछ रस बच रहा है तो बड़ी आँत उसे सोख लेती है और तब उस बचे हुए अंश को बाहर निकाल देती है। यही अंश विष्ठा है।

स्वाभाविक नियम है जो कुछ भी खाया जावे अपने समय पर पचकर और शरीर को आवश्यक रस देकर मल रूप में शरीर से बाहर हो जावे। किन्तु दूषित पदार्थ खाने से, अनियमित जीवन जीने से तथा व्यायाम न करने से भोजन का पूर्ण पाचन नहीं होता और अनपचा भाग बड़ी आँत में जमने लगता है। मल साफ नहीं होता और कोष्ठबद्धता (कब्ज) हो जाती है। बड़ी आँत में यह बेकार पदार्थ अधिक दिन तक ठहरा रहे तो वहीं सड़ने लगता है और उसके सड़ने के कारण अनेक विषैले कीटाणु उसमें पैदा हो जाते है। बड़ी आँत में बहुत सी छोटी-छोटी गिल्टियाँ है जो रस सोख लेती है। यह गिल्टियाँ आँत के अन्दर सड़ते हुए मल से जहरीले पदार्थ सोखकर खून के परिभ्रमण में डाल देती है। इससे सारा शरीर जहर से भर जाता है और अनेक प्रकार की बीमारियाँ हो जाती है। इसी से कहा जाता है कि संसार में जितने भी रोग है वे आँतो की खराबी से होते है।

आँतों की सफाई स्वाभाविक रूप में मल निकलने से होती है, लेकिन भोजन को ठीक प्रकार चबाकर न खाने से तथा अखाद्य दूषित पदार्थों के सेवन से अपच अथवा कब्ज हो जाता है। इसको दूर करने के लिए मनुष्य दवाओं का प्रयोग करता है अथवा जुलाब की गोली खाता है। दवा में खुद कोई ताकत नहीं होती जो पेट की सफाई कर सके। वह तो शरीर के लिए विजातीय पदार्थ हो जाता है। शरीर इस विजातीय पदार्थ को अपनी सारी ताकत से बाहर निकालने का यत्न करता है। इसी कोशिश में आँत से चिपका हुआ मल भी बाहर हो जाता है। यह दवायें आँत में उत्तेजना और जलन पैदा करती है। बार-बार की जलन व उत्तेजना से आँते कमजोर हो जाती है और अपना मामूली काम भी नहीं कर सकती। जब आँतों की शक्ति क्षीण हो जाती है तब न कोई दवा काम आती है और न जुलाब की गोली।

आँतों में चिपके हुए मल को निकालने का सिर्फ एक ही उपाय है और वह है गुदा के रास्ते पानी चढ़ाकर बड़ी आँत की नाली को धोना। आजकल डाक्टर लोग एनिमा द्वारा इस प्रकार की सफाई करते है। योगी लोग इसी को बस्ति क्रिया द्वारा करते है। वस्ति के द्वारा आँतों में जल चढ़ाकर नौली करने पर आँतों के सब विकार मिट जाते है। और चिपका हुआ मल जल के साथ निकल जाता है। जिनकी आँते खराब हो गई हों और जिन्हें भयानक कोष्ठबद्धता रहती हो उन्हें किसी योगी से वस्ति नौली सीखकर आँतों की सफाई कर डालनी चाहिए। इन क्रियाओं से आँतों की शक्ति भी बढ़ जाती है।

पग-चालन की क्रिया से भी आँतों पर प्रभाव पड़ता है। जब बार-बार एड़ी व अंगूठे को जमीन से लगाने के प्रयास में पैर को हिलाया जाता है तो पैर की नसों से लेकर छोटी व बड़ी आँतों तक खिचाव पैदा हो जाता है। पाँवों के इधर-उधर हिलाने से आँतों पर एक बार तनाव पड़ता है और

एक बार ये ढीली पड़ जाती है। बार-बार तनाव और ढीलेपन से आँतों की दीवाल पर चिपके मल छूट जाते हैं। और वे साधारण मल के साथ ही बाहर निकल जाते हैं। जो इस क्रिया को नित्य नियम से करेंगे उनकी आँतों में कोई विकार नहीं आयेगा और भोजन साधारण और स्वाभाविक रूप से हजम होकर बेकार पदार्थ मल के रास्ते से निकल जायेगा।

पग-चालन क्रिया का दूसरा प्रभाव मूत्रवाहक संस्थान पर भी पड़ता है। मूत्र निकालना दो ग्रन्थियों का काम है जिन्हें मूत्र-ग्रन्थियाँ वृक्क या गुर्दा (Kidney) कहते हैं। जिस जगह पर पसलियों का अन्त होता है उसी जगह कटि प्रदेश में मूत्र ग्रन्थियाँ दोनों ओर रहती हैं। इसकी शक्ल गुठली की तरह है और उस पर एक आवरण रहता है। इसके दोनों ओर से एक-एक नली निकलती है जिसे मूत्र प्रणाली कहते हैं। मूत्र तैयार होते ही यह उसे मूत्राशय में पहुँचा देती है।

हमारे खाये-पीये का पतला भाग यकृत से होकर गुर्दों में आता है। उस पतले भाग में रक्त, नमक, शक्कर, प्रोटीन आदि अनेक मूल्यवान वस्तुयें होती हैं। साथ ही पित्त का मैल, तेजाब, मूत्राम्ल, गन्दा मैला पानी और सड़ी गली कोशिकाएं आदि अनेक रद्दी और विषैली वस्तुयें होती हैं। गुर्दे एक फिल्टर या चलनी का काम करते हैं। उनका यह काम है कि वे मैले विषैले अंश मिले हुए पानी को तो मूत्र बना कर नालियों की राह मूत्राशय में भेज देते हैं और जो शरीर के काम आने वाले अंश होते हैं उन्हें यकृत को लौटा देते हैं। गुर्दों का एक काम रक्त को साफ करना भी है। ये रक्त के दूषित अंश को मूत्र में मिला देते हैं और शुद्ध अंश को रक्त की नलियों में दे देते हैं।

गुर्दों का काम है कि हमारे शरीर से मल व विष को बाहर निकालते रहें। यदि वे एक दिन की भी हड़ताल कर दें तो हमारे लिए मृत्यु का कारण बन जाय। हमारे कुपथ्य व खाने-पीने की गड़बड़ी से गुर्दों का काम बहुत बढ़ जाता है। वह थकान से हैरान हो जाते हैं। जैसे किसी के गले में एक मन का लोहे का लंगर डाल दिया जावे और उससे कहा जावे कि दिन भर का काम करते रहो और बोझ को भी लादे रहो। अथवा एक इन्जन जिसकी शक्ति चालीस सवारी डिब्बे खींचने की हो उसके पीछे अस्सी डिब्बे जोड़ दिये जायें। ऐसे ही जब गुर्दों पर कार्य भार अधिक बढ़ जाता है तो वह अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं कर पाते। नतीजा यह होता कि मल व विष की छनाई नहीं होती और मूत्र में भी अम्ल बढ़ जाता है। कभी शक्कर ज्यादा आने लगती है और कभी अलब्यूमिन आने लगता है। जब रेत ज्यादा बनने लगती है तो पथरी पड़ जाती है। इस प्रकार गुर्दों की खराबी से अनेक रोग हो जाते हैं। गुर्दों में कभी-कभी ऐसा दर्द उठता है कि मनुष्य की जान ही ले लेता है।

पग-चालन क्रिया से गुर्दों पर भी प्रभाव पड़ता है। पैरों के हिलाने से गुर्दों में उत्तेजना होती रहती है और उनको शक्ति मिलती रहती है। जिससे वे अपना काम सुचारू रूप से करने लगते हैं। पग-चालन क्रिया करने वाला साधक यदि अपने भोजन में असंयम न करे तो उसके गुर्दे सदैव शक्तिशाली बने रहेंगे और उसमें किसी रोग के होने की सम्भावना नहीं रहेगी। मूत्र-वाहिनी नलिकाओं के साधारण रोग तो इस क्रिया को थोड़े दिन करने के बाद आप ही आप अच्छे हो जाते हैं। पग चालन की क्रिया तो साधारण है, मगर इसका प्रभाव असाधारण है। यह हमारे महाप्रभु जी की अद्भुत देन है।

***

अभ्यास, रुचि और रति

साधन के तीन स्वरूप होते हैं—'अभ्यास' 'रुचि' और 'रति'। मन में उत्साह, उल्लास, लगन, तत्परता आदि न होने पर भी, साधन करते समय चित्त के ऊबने, घबराने या कभी-कभी साधन छोड़ने का मन होने पर भी लाभ की आशा से जो हठपूर्वक साधन किया जाता है, वह अभ्यास का प्राथमिक रूप है। साधन करते-करते जब अभ्यास बढ़ जाता है, तब ऊकताहट, घबराहट नहीं होती, साधन अच्छी तरह होने लगता है, परन्तु उसमें आनन्दोल्लास नहीं होता-वह अभ्यास का मध्यमरूप है और जब वही अभ्यास सुदृढ़ होकर आनन्द देने लगता है, तब उसके लिये मन की कुछ टान हो जाती है और छोड़ने में बुरा-सा लगता है, तब उसे उत्तम अभ्यास कहते हैं। इस उत्तम अभ्यास से ही साधन में 'रुचि' उत्पन्न होती है।

'रुचि' उत्पन्न होने पर साधन में स्वाद आता है, रस की अनुभूति होती है, मन चाहता है कि बराबर साधन चलता रहे और उससे सुन्दर रस मिलता रहे। जैसे भोजन में रुचि होने पर भोज्यपदार्थ स्वादिष्ट लगते हैं, उनके खाने को मन चलता है, वैसे ही इसमें साधन पर मन चलता है। पर जैसे पेट भर जाने पर कुछ समय के लिये रुचि मिट जाती है, वैसे ही इस क्षेत्र में भी साधन करने में रसानुभूमि होने पर भी कभी-कभी मन अघाया हुआ-सा दीखता है और साधन का प्रवाह रुक-सा जाता है; पर इस प्रकार रुचि का साधन करते-करते अन्त में साधन में अनुराग पैदा हो जाता है। यह अनुराग ही 'रति' का रूप धारण करता है।

जब साधन में 'रति हो जाती है, तब फिर कभी उसके रुकने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। फिर तो जैसे गंगा की धारा सदा-सर्वदा अविच्छिन्न रूप से समुद्र की ओर बहती रहती है, वैसे ही साधन की धारा अविराम गति से चलती है। इसमें विशेषता यह होती है कि इस रति के साधन में नित्य-नवीन आनन्द की अनुभूति होती है। कभी किसी भी स्थिति में चित्त अघाता ही नहीं, वरं जितना ही यह साधन बढ़ता है, उतनी ही साधन की नयी-नयी लालसा जाग्रत् होती है। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता, जिसमें साधन का तार टूटता हो। प्रतिक्षण नया-नया रस प्राप्त होने से उत्साह और उल्लास बढ़ते रहते हैं। अन्त में मन पर पूरी तरह से साध्य का एकाधिपत्य हो जाता है या यों कहिये कि समस्त मन साध्य के प्रति सम्पूर्णतया समर्पित होकर उसी का बन जाता है। तदनन्तर साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

योग की भाषा में 'अभ्यास' चित्त की 'विक्षिप्त' स्थिति है, 'रुचि' 'एकाग्र' स्थिति है और 'रति' 'निरुद्ध' स्थिति है। अभ्यास 'धारणा' है, रुचि 'ध्यान' है और रति 'समाधि' है। ज्ञान की भाषा में अभ्यास 'पहली भूमिका' है, रुचि 'दूसरी' और रति 'तीसरी' 'भूमिका' है, जिसके अन्त में वस्तु तत्व की प्राप्ति हो जाती है। भक्ति की भाषा में अभ्यास 'वैधी भक्ति' है, रुचि 'साधनभक्ति' है और रति 'प्रेमाभक्ति' है, जो भगवान् को प्रेमास्पदरूप से प्राप्त करा देती है।

साधक का जिस मार्ग में विश्वास हो, जिस मार्ग में उसे सुविधा प्रतीत होती हो, निर्देशक ने जो मार्ग बतलाया हो, उसको उसी पर श्रद्धा के साथ धैर्य धारण करके चलना चाहिये। अभ्यास करते-करते वह अपने-आप ही अभ्यास की परिपक्वता होने पर 'रुचि' और 'रति' के स्तर पर पहुँच जायेगा और तब वह अपने को साध्य के समीप जानकर परम प्रसन्न होगा, परन्तु जो साधक क्षण-क्षण में मार्ग-परिवर्तन करेगा, उसका तो अभ्यास ही सिद्ध होना कठिन हो जायेगा। 'रुचि' और 'रति' की बात तो अलग रही।

SIDDHYOG Regd. No. L. AG. 008

जुलाई 2000

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री --

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः पपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहिनित्यम्।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/२१

हे रुद्र ! संहार करने वाले देव ! तू अजन्मा है यों समझकर कोई जन्म-मरण के भय से डरा हुआ मनुष्य तेरी शरण लेता है; मैं वैसा ही हूँ, अतः तेरा जो दाहिना कल्याणमय मुख है उसके द्वारा तू सर्वदा मेरी जन्म-मृत्यु रूप भय से रक्षा कर।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बराई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326